श्री रूपभवानी रहस्योपदेश

भाषा-टीका सहित

सम्पादक :
डॉ० रमेशकुमार शर्मा

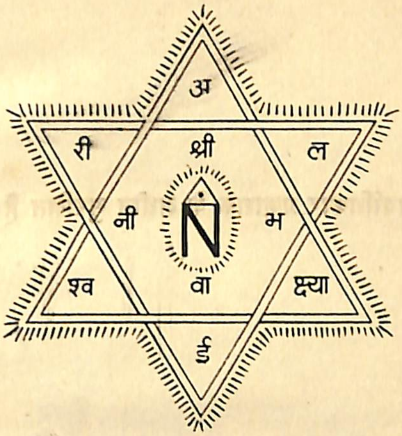
भाष्यकार :
डॉ० त्रिलोकीनाथ गंजू

श्री अलख साहिबा ट्रस्ट, कश्मीर

श्री रूपभवानी रहस्योपदेश
भाषा-टीका

श्री रूपभवानी रहस्योपदेश

भाषा-टीका सहित



आविर्भूत्वा स्वजनकतपसाशारिका अंश रूपा
स्वस्वातंत्र्यात् प्रकटितंयया विश्वसंहृत विकासः।
ध्वान्तंभित्त्वा प्रज्ज्वलितवपुषास्वाञ्जनानभीष्टपूर्तिम्
तां देवीं रौप्यनाम्नां विकसितवदनां चेतसा भावयामि ॥

सम्पादक :
डॉ० रमेशकुमार शर्मा
एम० ए०, एलएल० बी०, पीएच० डी०, डी० लिट०
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर।

भाष्यकार :
डॉ० त्रिलोकीनाथ गंजू
एम० ए०, पीएच० डी०
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर।

प्रकाशक

श्री अलख साहिबा ट्रस्ट

दिद्दमर, नवाकदल, श्रीनगर, कश्मीर (भारत)

प्रकाशक :
श्री अलख साहिबा ट्रस्ट (रजि०)
नवाकदल, श्रीनगर, (कश्मीर) भारत ।

१९७७
मूल्य : २५.००

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस,
अहीर पाड़ा, राजामंडी,
आगरा–२

विषय-सूची

प्रकाशक का वक्तव्य

श्री अलख-साहिबा ट्रस्ट (रजि०) का इतिहास :

विक्रमाब्दि १९९० (ईस्वी १९३४) दुर्गा अष्टमी को श्री अलख-साहिबा ट्रस्ट अस्तित्त्व में आया। यहाँ पर यह बताना आवश्यक है कि ट्रस्ट किन परिस्थितियों के कारण बनाया गया। श्री अलख-ऐश्वर्य (जगत माता भवानी) के निर्वाण के उपलक्ष में दो वार्षिक श्राद्ध सम्पन्न होते हैं। एक माघ कृष्ण-पक्ष सप्तमी को देंदमर (दिद्दामठ) नवाकदल, श्रीनगर में दूसरा कन्यार्कगत[1] के पितृपक्ष, अश्विन कृष्ण सप्तमी को वासुकि कुण्ड (वासकूरा, सुम्बल तहसील, गान्धरबल (कश्मीर) में। बिरादरी द्वारा प्रस्तावित व्यक्ति इस यज्ञ को यथेच्छा अपनी बिरादरी में सम्पन्न करता था और इस यज्ञ को करने वाले प्रस्तावित व्यक्ति को यज्ञ आदि के खर्चे की पूर्ति के लिए यज्ञ में चढ़ाई गई नकदी दी जाती थी, जिसको "ज़रि नियाज़" कहते थे। यज्ञ आदि के खर्चे के उपरान्त बचे हुए रुपये को भवानी की तपस्या से सम्बन्धित 'अस्थापनों'[2] के सुधार एवं उनकी मरम्मत के निमित्त व्यय किया जाता था। विक्रमाब्दि (१९८०) में बिरादरी ने धनाभाव से विवश होकर जनता से चन्दा जमा किया और "वासुकि कुण्ड" (वासकूरा) में एक धर्मशाला का निर्माण करके जनता की आवश्यकताओं को पूरा किया। वासकूरा में प्राचीन धर्मशाला थी, जिसमें कन्यार्कगत (पितृ-पक्ष) का श्राद्ध किया जाता था किन्तु वह आग से जल गई थी। बिरादरी के सामने इसके निर्माण की समस्या थी, जिससे श्राद्ध का अनुष्ठान यथावत् हुआ करे। अतः इस पुनीत कार्य के लिए यथा-योग्य जगह या मकान का होना अनिवार्य बन गया था। यही कारण था कि बिरादरी ने धर्मशाला बनाने का प्रण किया। श्रद्धालुओं और इस कार्य से सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों ने एक सभा के गठन का निर्णय लिया और "श्री अलख साहिबा ट्रस्ट" का अस्तित्व निम्नलिखित उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों के लिए सामने आया :—

१. यज्ञ रचाने और "ज़रि नियाज़" (चढ़ावा) प्राप्त करने तथा उसका उचित प्रयोग करने के लिए।

---

१. हिन्दी भाषी क्षेत्र के लोग जिसे 'कनागत' कहते हैं।—**सम्पादक**

२. पवित्र स्थल, मन्दिर या तीर्थ।—**सम्पादक**

२. अस्थापन आदि की देख-रेख एवं उनका सुधार करने के लिए।

३. हिन्दू जनता को संगठित करने और उसमें प्रेम-भाव बढ़ाने के लिए।

४. अस्थापनों में धार्मिक और सामाजिक प्रचार करने हेतु।

५. श्री अलख साहिबा की जीवनी और दर्शन का प्रचार करने के हेतु और उनके 'वाक्यों' का प्रचार-प्रसार एवं प्रकाशन करने के लिए।

ट्रस्ट की स्थापना के समय से ही उसे कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ा क्योंकि वासकूरा में यज्ञशाला एवं धर्मशाला के निर्माण तथा श्रीनगर में धर्मशाला बनाने के लिए जमीन खरीदने आदि के लिए ट्रस्ट के पास धन का कोई प्रबन्ध नहीं था। लेकिन धन्य हैं वे देवी-भक्त जिन्होंने ट्रस्ट के सदाचार और उसकी आवश्यकता को देखकर तन, मन और धन से ट्रस्ट की समय-समय पर सहायता की। ट्रस्ट आज तक अपने उद्देश्यों और सिद्धान्तों को पूरा करने में जिस हद तक सफल हो सका है, वह सब देवी-भक्तों की सहायता से ही सम्भव हुआ है।

देवी रूपभवानी ने स्वयं कहा है :—

"बे-निशाँ आमद निशाने बेखुदाँ।[1]
सर बिनेह-बर आस्ताने बेखुदाँ॥"

(अलमस्त, बेखुद और ब्रह्मलीन लोगों की पहिचान यही है कि उनकी कोई पहिचान नहीं है। ऐसे लोगों की दहलीज पर सिर रख दो, अर्थात् सिजदा करो, क्योंकि वे पूज्य हैं।)

वे लोग जो निस्वार्थ भाव से समाज एवं धर्म की सेवा करते हैं, इसी प्रकार के पूज्य लोग होते हैं और ट्रस्ट उनके प्रति आभार प्रकट करता है। क्योंकि उन्होंने ट्रस्ट के कार्यों को सफल बनाया है।

यहाँ संक्षेप में ट्रस्ट के द्वारा सम्पन्न कार्यों का ब्योरा देना आवश्यक है।

महान उपलब्धियाँ :

१. वर्तमान मुख्य कार्यालय, देंदमर, दिद्दामठ, नवाकदल में जमीन का खरीदना और प्रतिवर्ष माघ, कृष्ण-पक्ष सप्तमी को यज्ञ का रचाना।

---

१. इस शेर को उनकी हस्तलिपि में लिखा हुआ पाया गया है, कुछ लोग ऐसा मानते हैं।

यहाँ पर नदी के तट पर स्थापित मन्दिर का निर्माण और दो मंजिली धर्मशाला तथा एक बड़ी हवेली का निर्माण ; जिसमें किराये पर एक हाई स्कूल चलता है और वहाँ एक स्नानगृह भी है।

२. श्रीभवानी के जन्म स्थान देंदमर (दिद्दामठ), नवाकदल, श्रीनगर में ज्येष्ठ पूर्णिमा को श्री अलख-साहिबा का जन्म दिन मनाया जाता है और यज्ञ रचाया जाता है। यहाँ पर जन्मस्थान से संलग्न जमीन का खरीदना और मन्दिर तथा अमृत-कुण्ड का निर्माण ट्रस्ट ने कराया। अन्य आवश्यक निर्माण कार्य चल रहे हैं।

३. वासकूरा (सुम्बल), तहसील गान्धरबल में धर्मशाला का निर्माण। जिसका उद्घाटन १६ आश्विन वि० स० १९९९ को तत्कालीन गवर्नर स्व० महाराजकृष्ण धर ने किया था। उसकी दीवार बन्दी की। जन-कल्याण के लिए स्त्री-स्नानगृह तथा मन्दिर का निर्माण। उपवन में बिजली का प्रबन्ध, अमृतकुण्ड में पम्प लगाने आदि का कार्य।

४. मणिगाँव अस्थापन (तहसील गान्धरबल) का जीर्णोद्धार तथा दीवार-बन्दी।

५. चश्मा-साहिबी अस्थापन (तहसील श्रीनगर) में भगवती के तपस्या-स्थान का नव-निर्माण।

६. अलक्ष्येश्वरी अस्थापन लार (तहसील गान्धरबल) का सुव्यवस्थित प्रबन्ध।

७. खरीदे हुए बर्तनों और अन्यान्य आवश्यक वस्तुओं का सुव्यवस्थित संकलन एवं उनका निरीक्षण।

८. सायं-पाठशाला का प्रबन्ध।

९. दाह-कर्म-सामग्री-विभाग की स्थापना।

१०. निम्नलिखित अस्थापनों का निर्माण एवं प्रबन्ध :—

वासुकि-कुण्ड (सुम्बल) का मन्दिर।
मणिग्राम (वाइल) का मन्दिर।
तकिया अलख-साहिबा (लार)।
लक्ष्मी-भगवती रूपभवानी, चश्मा साहिबी।
श्री रूपभवानी जन्म स्थान, (श्रीनगर) का मन्दिर।
श्री रूपभवानी श्राद्ध-स्थल, (नवाकदल) श्रीनगर।

श्रीअलक्षेश्वरी के वाक्यों का प्रथम प्रकाशन बड़ी कठिनाइयों के उपरान्त (कई पुरानी पाण्डुलिपियों की देख-रेख के बाद) स्व० हरभट्ट

शास्त्री एवं स्व० डा० शिवनाथ शर्मा के सहयोग से किया गया था। इस बार ट्रस्ट भवानी अलक्ष्येश्वरी के वाक्यों का एक सुव्यवस्थित, प्रामाणिक एवं सटीक संस्करण जनता के सामने रख रहा है। प्रस्तुत संस्करण में पाण्डु-प्रति (Manuscript) पूर्ण रूप से शुद्ध की गई है। इस पवित्र कार्य का भार **डॉ० त्रिलोकी नाथ गंजू** (हिन्दीविभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय) ने लिया और उन्होंने अलक्ष्येश्वरी के वाक्यों के सम्पूर्ण अंगों का सविस्तार वर्णन तथा अनुवाद किया है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं। इसका सम्पादन परमादरणीय **डॉ रमेशकुमार शर्मा** (प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय) के सकुशल परीक्षण और निरीक्षण में हुआ है, यह निश्चय ही कश्मीरी हिन्दू-जनता के प्रति उनके द्वारा किया गया एक निःस्वार्थ कार्य है जो सदा के लिए स्मरणीय रहेगा और कश्मीरी जनता उनकी सदा आभारी रहेगी। हम **'प्रेम प्रिंटिंग प्रेस'** के स्वामी श्री पीतमसिंह यादव के भी आभारी हैं जिन्होंने कश्मीरी को देवनागरी में छापने के लिए विशेष चिह्नों की व्यवस्था की है।

उस अनन्त ब्रह्म की सत्ता का प्रकाश संसार के कण-कण में उद्भासित हो रहा है और जो सन्त उस अनन्त सत्ता से एक्य स्थापित कर लेते हैं उनकी आत्मा का प्रकाश भी संसार के कण-कण को प्रकाशित करता है। ब्रह्ममय देवी रूपभवानी की आत्मा कश्मीर के कण-कण में और कश्मीरी हिन्दुओं के रोम-रोम में आज भी मुखरित हो रही है। कहा जाता है कि उन्होंने अपने प्रिय शिष्य श्री बालजू धर को अपने एक पत्र में फारसी का एक शेर लिखकर भेजा था उसकी प्रथम पंक्ति है :—

"नूरे-मन बिंगर बहरजा जल्वागर।"

अर्थात् मेरे नूर को देखो, कि (वह) हर जगह जल्वागर (प्रकाशित) है।"

उसी अनन्त प्रकाश (नूर) की सेवा में यह ग्रन्थ तथा ट्रस्ट के सदस्यों की श्रद्धा-भावना एवं भक्ति अर्पित है।

दिनांक
माधवी ज्येष्ठ पूर्णिमा, २०३४
तदनुसार १ जून १९७७
(अलक्ष्येश्वरी देवी श्री रूपभवानी का जन्म-दिवस)

जानकीनाथ धर
मंत्री
श्री अलख साहिबा ट्रस्ट (रजिस्टर्ड),
देंदमर, नवाकदल, श्रीनगर,
कश्मीर, भारत।

भाष्यकार का निवेदन

भवानी अलक्ष्येश्वरी के वाक्यों को पढ़ने और पढ़ाने का अवसर मुझे सन् १९४६ ई० में प्रथम बार प्राप्त हुआ, जब मैं १५ वर्ष की आयु का था और जब मैं कश्मीर सूबे के तत्कालीन गवर्नर, पितृ-तुल्या स्व० पण्डित महाराजकृष्ण दर की धर्म पत्नी, मातृ-तुल्य स्व० महाराज-रानीजी को गीता पढ़ाता था। उन्होंने मुझे भवानी अलक्ष्येश्वरी के वाक्यों की एक पाण्डुलिपि (Manuscript) इसलिए दी थी कि मैं उसको पढ़ूँ और फिर उसे उन्हें पढ़ाऊँ। यह पाण्डुलिपि देवनागरी लिपि (Script) में थी। मैंने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया और फिर उसका अध्ययन अपने पिता स्व० पण्डित राधाकृष्णजी गंजू की देख-रेख में आरम्भ किया। इसके उपरान्त मैंने स्वयं अपने लिए एक प्रति (Copy) तैयार कर ली और यथा-संभव प्रयत्न से स्वर्गीया श्रीमती दर को उसे पढ़ाया; किन्तु स्वयं मेरे मन में इस बात का खटका बना रहा कि 'वाक्य' मेरी समझ के बूते के बाहिर तो नहीं हैं। इस समय तक स्व० पण्डित केशव भट्ट शास्त्री ने अपने स्तोत्र-संग्रह में "सभ्या-भवानी" के वाक्यों का समावेश और प्रकाशन कर लिया था। मेरे सौभाग्य से स्व० पण्डित महाराज कृष्णजी दर के वयोवृद्ध पिता स्व० पण्डित इकबाल कृष्ण दर ने "रोंप्य देंदीहन्द वाक्य" नामक शारदा पाण्डुलिपि की एक प्रति सन् १९४७ ई० के मई महीने में मुझे दी। शर्त यह थी कि मैं उनकी पाण्डुलिपि की वह प्रति एक महीने के भीतर लौटा दूँ। शारदा-लिपि की यह पाण्डु-लिपि अधिक स्पष्ट और शुद्ध थी। इसकी प्रतिलिपि भी मैंने अपने लिए तैयार कर ली और दोनों पाण्डुलिपियों को मिलाकर एक संगत पाठ बना लिया और स्वयं इसका अध्ययन करने के उपरान्त स्व० श्रीमती दर की शंकाओं का

यथा-शक्ति समाधान किया। तब से लेकर आज तक "सभ्या-रूप भवानी" के इन वाक्यों के प्रति मुझे अगाध श्रद्धा एवं अटूट विश्वास है।

सन् १९६९ में ई० मेरे पूज्य गुरुदेव डा० रमेशकुमार शर्मा (प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय) ने हमारे विभाग की, दर परिवार की, एम० ए० की एक छात्रा के "विशेष-प्रबन्ध" के निर्देशन का आदेश मुझे दिया। वह छात्रा हिन्दी एम० ए० उत्तरार्द्ध (फाइनल) की परीक्षा के लिए अपना 'विशेष-प्रबन्ध' (Dissertation) 'सभ्या-रूप भवानी' पर लिख रही थी। मैंने प्रथमतः स्व० डा० शिवनाथ शर्मा द्वारा सम्पादित 'रूपभवानी रहस्योपदेश' की प्रति और अपनी पाण्डुलिपि का मिलान किया, किन्तु समयाभाव के कारण तथा कई संदिग्ध पाठ-भेदों के कारण ग्रन्थ के पाठ का संपूर्ण संशोधन मैं नहीं कर पाया। संयोग से सन् १९७० ई० की 'होराष्ठमी' के दिन पुखरी बल (पुष्कर-बल) श्रीनगर में स्व० पण्डित वासुदेव पिंगलेन के सम्पर्क से मालूम हुआ कि उनके पास 'भवानी अलक्ष्येश्वरी' के वाक्यों की एक प्राचीन शारदा-लिपि की प्रति सुरक्षित है। अतः मैं उनके निवास स्थान पर गया और वहाँ पाँच दिन रहकर "रूपभवांन्यहिन्दि् वाक्य" की पाण्डुलिपि से अपनी पाण्डुलिपि का मिलान किया। स्व० पण्डित वासुदेवजी की पाण्डुलिपि के अन्त में लिपिकार (scribe) ने "सप्तर्षि शुभ संवत् ४८४९ फाल्गुन वदि अमायाम्" लिखा है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह पाण्डुलिपि आज से २०१ वर्ष पुरानी है। अंग्रेजी सन् के अनुसार, यह पाण्डुलिपि फरवरी १७७४ में लिखी गई थी। पुस्तक का कागज देशी है और स्याही लाख और काजल की मिलावट से बनी है। मैंने १९७१ के फरवरी महीने में श्री हृदयनाथजी मत्तू के घर (सफाकदल) पर आयोजित गोष्ठी में अलक्ष्येश्वरी-ट्रस्ट के सदस्यों से प्रार्थना भी की थी कि वे श्री वासुदेव पिंगलेन से उक्त बहुमूल्य पाण्डुलिपि, किसी प्रकार प्राप्त करने का उपाय करें; किन्तु इसी बीच स्व० पिंगलेन का निधन हो गया और वह पाण्डुलिपि ट्रस्ट को नहीं मिल सकी।

इसी प्रकार पाण्डुलिपियों की खोज में मटन (मार्त्तण्ड) निवासी

श्री दीनानाथ किचलू ने मटन (मार्त्तण्ड) के ही शेर-परिवार से भवानी के वाक्यों की एक पाण्डुलिपि की प्रति उधार लेकर मुझे दी थी। इस पाण्डुलिपि में समय और लिपिकार का संकेत नहीं है किन्तु पुस्तक अवश्य प्राचीन और देशी कागज़ पर लिखी हुई है। अनुमानतः इसका समय आज से पौने दो सौ वर्ष पहले का होगा। आज से सौ दो सौ वर्ष पूर्व मटन (मार्त्तण्ड) के पण्डित-वर्ग गर्मियों में पुस्तकें लिखते थे और सर्दियों में उन हस्तलिखित पुस्तकों को पंजाब और उत्तर-प्रदेश के मैदानी भू-भागों में बेचने जाते थे। संभवतः भगवती रूपभवानी के वाक्यों की हस्तलिखित प्रतियाँ वे कश्मीर के बाहर बसे हुए दर परिवार के लोगों के लिए बनाते हों। इनके अतिरिक्त इस पुस्तक में कश्मीर रिसर्च-विभाग की अन्य पाण्डुलिपियों और स्व० डा० शिवनाथ शर्मा के द्वारा सम्पादित—"रूपभवानी रहस्योपदेश" के पाठ भेदों का "क० ख० ग० घ० ङ० च०" के संकेतों से फुटनोट में निर्देश किया है।

स्व० डा० शिवनाथ शर्मा के द्वारा सम्पादित ग्रन्थ में कहीं-कहीं कुछ पंक्तियाँ लुप्त हैं किन्तु मार्त्तण्ड और पिंगलेन पाण्डुलिपि में ये पंक्तियाँ लुप्त नहीं है, जैसे :—

I (क) **ईश्वरी तौरियातीत परमानन्दी**

—(डॉ० शिवनाथ शर्मा द्वारा संपादित)

(ख) **ईश्वरी तरियातीत परमानन्दी नेतिसत्तस्थी**

—(मार्त्तण्ड एवं पिंगलेन) निर्वाण-दशकी-२)

II (क) ह्यमालय शूञ यवय् ल्युख पोंवुम्
तवय पाँछ् स्मारुम् एका अन्त
न दाह दिये ना केंछ् प्रावे
ठहरावे न तं स्रिहनावे

—(ज्ञान खण्ड-६०, डॉ० शिवनाथ शर्मा द्वारा संपादित)

(ख) हीमालय अंश यवैय् ल्युख प्रोवुम्
तवैय् पान सुमंरुम् एका अन्त

ग्ञान् गर्जनाइ सूत्य प्रंकरथ् सांदूम
चीतन् प्रोवुम् पानं पानस् मंज़

—(ज्ञान खण्ड-६०, मार्त्तण्ड, पिंगलेन)

अर्थ-योजना और पद-योजना से पाठक स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि (क) पद्य की प्रथम दो पंक्तियाँ तो अर्थ-योजना से स्पष्ट है, किन्तु बाकी दो पंक्तियाँ न तो छन्द में और न ही अर्थ में मेल खाती हैं। वस्तुस्थिति यह है कि अन्त की दो पंक्तियाँ लुप्त हो गई हैं और अगले षट्पदी छन्द की अगली दो पंक्तियाँ ६० वें पद्य के साथ जुड़ गईं हैं। इस प्रकार की अनेक विसंगतियाँ यहाँ-वहाँ बिखरी हुई हैं।

मैंने भवानी अलक्ष्येश्वरी के उपदेश अथवा समाधि के उद्गारों की सटीक प्रति १९७२ के जनवरी मास में तैयार की थी किन्तु कुछ एक फुट नोट लिखने रह गए थे जिनको मैं अपनी डाकट्रेट (पीएच० डी०) थीसिज 'कश्मीरी-भाषा का उद्गम और विकास' (Origin and development of Kashmiri Language) में व्यस्त होने के कारण, तथा 'गान्धी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा' दिल्ली की योजना "संस्कृत-केन्द्रित भाषा समन्वय कोश" के उप-सम्पादक नियुक्त होने के कारण, सन् १९७४ तक पूरा न कर पाया। इसके उपरान्त मैं दत्तचित्त होकर इस पुनीत कार्य में व्यस्त हो गया और अब भवानी अलक्ष्येश्वरी की अपार अनुकम्पा से यह पवित्र कार्य सम्पन्न हुआ है। अलक्ष्येश्वरी के वाक्यों के अनुवाद करते समय मेरे स्नेही श्री जगन्नाथ शास्त्री (ब्रारू) ने जो यथाशक्य परामर्श प्रस्तुत किया तदर्थ मैं उनका बड़ा ही आभारी हूँ। भवानी अलक्ष्येश्वरी-ट्रस्ट के सदस्यों के प्रति आभार व्यक्त किए बिना मैं नहीं रह सकता हूँ, क्योंकि उन्होंने समय-समय पर प्रेरणा देकर मुझे अत्यन्त उत्साहित किया है!

मैं पाठकों को इस बात का आश्वासन देना चाहता हूँ कि अर्थ-संगति का तालमेल देने के लिए तथा पाठ-शुद्धि की सावधानी पर अधिक ध्यान रखने के लिए मैंने पाठ-भेद के विवेचन में (शब्द-योजना और अर्थ-योजना दोनों के द्वारा सुसंगत्-पाठ बनाने के लिए) यथाशक्य प्रयत्न किया है। अर्थ की स्पष्टि के लिए "निर्वाण-दशकी"—(जो

अधिक कठिन है) का "पद-अनुवाद" और "युक्त-अनुवाद" देकर दोनों विधाओं से स्पष्टि करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु आगे चलकर विस्तार-भय से पद-अनुवाद देना संभव नहीं हो सका है अतः केवल 'युक्त-अनुवाद' ही दिया है। युक्त-अनुवाद में स्पष्टि के लिए प्रायः "अर्थात्" का प्रयोग किया है और वाक्य के युक्त-अनुवाद के उपरान्त आशय को स्पष्ट करने के लिए आवश्यकता के अनुरूप "टिप्पणी" भी दी है जिससे साधारण पाठक को सही दिशा का बोध हो सके।

मैंने, इसके अतिरिक्त भवानी के युग के कश्मीर के इतिहास को, अलक्ष्येश्वरी के जीवन-वृत्त को, कश्मीर की सांस्कृतिक-दार्शनिक परम्परा को, कश्मीरी भाषा में वाक्य परम्परा को, भवानी के द्वारा प्रवचनित वाक्य-सार को तथा वाक्यों के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है।

श्रद्धेय गुरुदेव डॉ० रमेशकुमार शर्माजी के कुशल-अनुभव और सुव्यवस्थित परीक्षण एवं निरीक्षण में इस पवित्र ग्रन्थ का सम्पादन हो रहा है। यह मेरे लिए गर्व और गौरव का अविस्मरणीय विषय है। उनके प्रति आभार व्यक्त करना स्वयं में साभार है।

भवानी अलक्ष्येश्वरी के ज्ञान-प्रवाहित वाक्य महासागर के समान अपार और अगम्य हैं तथा मेरी बुद्धि अल्प है, किन्तु मैंने उनकी अनुकम्पा रूपी डोंगी पर बैठकर उनकी करुणा की उर्मियों के सहारे इस अपार महासमुद्र के पार जाने का प्रयत्न किया है। मुझे इसमें कितनी सफलता मिली है इसका निर्णय अलक्ष्येश्वरी श्रीरूपभवानी के जिज्ञासु विद्वान तथा भावुक भक्त ही कर सकेंगे।

त्रिलोकीनाथ गंजू,

८२-सत्यू-पाईन, श्रीनगर,
कश्मीर (भारत)

अलक्ष्येश्वरी श्रीरूपभवानी के समय के कश्मीर का इतिहास

अलक्ष्येश्वरी के जन्म से लेकर उनके निर्वाण पर्यन्त कश्मीर का इतिहास बहुत ही भयानक उथल-पुथल का युग रहा है। हिन्दू-समाज पर आये दिन अत्याचार, बलात्कार, उनकी कन्याओं का अपहरण, उनके देव-मन्दिरों का ध्वंस तत्कालीन मुगल-प्रशासकों के मनोरंजन का विशेष विषय था। इस युग में हिन्दुत्व की भावना हिल उठी थी किन्तु भवानी के दिव्य अवतार के फलस्वरूप कश्मीरी हिन्दुओं की धर्म-भावना को एक सबल सहारा मिला जिसके कारण वे अपने धार्मिक कर्त्तव्यों के प्रति अधिक उदासीन नहीं हुए यद्यपि अत्याचार की चक्की में वे निरन्तर पिस रहे थे।

अलक्ष्येश्वरी श्री रूप-भवानी के आविर्भाव से लेकर उनके निर्वाण पर्यन्त, कश्मीर में मुगल सम्राट जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब, शाह-आलम, फर्रूखसियर और मुहम्मदशाह का राज्य रहा है। भवानी का अविर्भाव, वास्तव में तत्कालीन हिन्दुओं के गिरते मनोवल को एक सम्बल देने के लिए माहामाया की अपनी लीला थी क्योंकि अलक्ष्येश्वरी के जन्म से एक वर्ष पूर्व (१६२० ई० में) कश्मीर के मुगल सूबेदार[१] इरादत खाँ का आन्तक चरमसीमा पर था। इस क्रूर सूबेदार ने यहाँ के हिन्दुओं पर अत्याचार और दमन का एक भयानक आतंक जमाकर अधिकांश हिन्दुओं को बलात् धर्म-परिर्वतन के लिए बाध्य किया था। जिन्होंने धर्म-परि-

---

१. "कश्मीरी-पण्डित" : पं० आनन्दकौल—१६२४ ई०, (इस युग के ऐतिहासिक साक्ष्य इस पुस्तक से ही लिए गए हैं)।

वर्तन स्वीकार नहीं किया उन्हें ऐहिक लीला से हाथ धोना पड़ा। जिस समय भवानी अलक्ष्येश्वरी ने अपनी तपस्या के साढ़े बारह वर्ष पूर्ण किए उस समय कश्मीर का सूबेदार अलीमर्दान खाँ था। वह भवानी अलक्ष्येश्वरी के उपासकों में से था। भवानी की ही दया से अलीमर्दान खाँ को शिवरात्रि के दिन भगवान शंकर का साक्षात्कार हुआ था। साक्षात्कार की भाव-विभोरता में उसने फारसी भाषा में एक सुन्दर पद्य की रचना भी की थी जिसकी प्रथम पंक्ति है—

"शबशाहेतिमन् दीदम्"

जिस समय अलक्ष्येश्वरी ने अपनी तपस्या के पचास वर्ष पूर्ण किए, उस समय कश्मीर में मुगलों का अत्याचार चरम-सीमा पर पहुँच चुका था। कश्मीर का सूबेदार औरंगजेब का भक्त इफ्तखार खाँ उर्फ अफगानएँ-शेर था। यह सूबेदार कश्मीर के हिन्दुओं को पशुओं की तरह पकड़-पकड़ कर मुसलमान बनाता था। अतः इस अत्याचार को देखकर हिन्दू समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति काँप उठे और किसी प्रकार से साहस करके, वे सब भवानी अलक्ष्येश्वरी के पास इस अत्याचार के बारे में निवेदन करने के लिए गए। अलक्ष्येश्वरी ने इस अत्याचार की सारी घटना को सुनकर उन्हें यह परामर्श दिया कि कश्मीरी हिन्दुओं में से कुछ चुने हुए लोग गुरुदेव श्री तेगबहादुर के पास जायें। अतः भवानी के आदेश के फलस्वरूप कश्मीर के ५०० हिन्दू लुक-छिप कर देवसर से होते हुए पंजाब से आनन्दपुर पहुँच गए, जहाँ गुरु श्री तेग-बहादुरजी ठहरे हुए थे। इस घटना का विवरण भाई ज्ञानसिंह ज्ञानी ने अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ "गुरु खालसा तवारीख (भाग ३, पृ० १३५४) में, और भाई संतोषसिंह ज्ञानी ने अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ—"सूरज-प्रकाश" (भाग १, अध्याय १०) में इस प्रकार से प्रस्तुत किया है।

"कश्मीरी हिन्दुओं की दुःखभरी दास्तान सुनने के उपरान्त गुरु श्री तेजबहादुरजी अत्यन्त दुःखी हुए और इस दुःख के वातावरण ने सारी सभा में सन्नाटा पैदा कर दिया। इसी समय उनके पुत्र धर्मवीर गोविन्दसिंहजी कौतूहल के कारण उस स्थान पर आ पहुँचे। सभा में सन्नाटा देखकर इस दस साल के बच्चे से रहा नहीं गया और उन्होंने

उसका कारण अपने पिता से पूछा। पिता ने संक्षिप्त ब्योरा देकर कहा कि यदि कोई महापुरुष इस अत्याचार को रोकने के लिए सहर्ष अपना बलिदान करेगा तो अवश्य ही इनका उपकार होगा। दस वर्षीय बेटे ने उत्तर दिया—"पिताजी ! आपसे बढ़कर भारत में कौन महापुरुष है ?" परन्तु गुरु श्री तेगबहादुरजी ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा—"बेटे ! तुम अभी छोटे हो। तुम्हारी देख-रेख कौन करेगा।" भगवती चण्डी के वरद पुत्र गोविन्दसिंह ने निर्भीक उत्तर दिया :— "भगवान" !

अन्त में गुरु श्री तेगबहादुरजी ने कश्मीरी ब्राह्मणों को स्वयं बोलकर एक दरख्वास्त लिखवाई जिसे पहिले लाहौर के काज़ी के पास भेजा गया और वहाँ से उस दरख्वास्त की पेशी औरंगज़ेब के दरबार में हुई। इस दरख्वास्त की भूमिका इस प्रकार से लिखवाई गई थी:— "हम सारे कश्मीरी ब्राह्मण एक साथ मुसलमान धर्म स्वीकार करने के लिए तैयार हैं यदि गुरु श्री तेगबहादुरजी मुसलमान धर्म को स्वीकार कर लें।" अतः गुरु श्री तेगबहादुरजी को देहली दरबार में पेश होने की आज्ञा जारी की गई और १५ नवम्बर १६७५ ई० को धर्म-प्राण गुरु श्री तेगबहादुरजी दिल्ली दरबार में उपस्थित हुए।

कश्मीर की लोक-परम्परा का कथन है कि गुरु तेगबहादुर जी को रात के समय भवानी अलक्ष्येश्वरी ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि "गोविन्दसिंहजी के संरक्षण का भार मुझ पर छोड़कर आप सत्य और न्याय के लिए प्राणों को उत्सर्ग करें।" कहते हैं यही कारण है कि गुरु श्री गोविन्दसिंहजी बाल्यकाल से ही देवी के उपासक थे और इसी कारण उन्होंने "चण्डी-शतक" की रचना भी की। लोक मान्यता यह है कि गुरु श्री गोविन्दसिहजी को भवानी अलक्ष्येश्वरी के दर्शन का लाभ दिद्दमर श्रीनगर में हुआ था।

सम्राट औरंगजेब के ज़ोर देने पर भी धर्म-प्राण गुरु श्री तेगबहादुरजी ने अपना धर्म बदलना स्वीकार नहीं किया। अतः शाही आज्ञा से अमर-शहीद गुरु श्री तेगबहादुरजी का बध कर दिया गया। उनके एक निकटतम साथी भाई जट्टाजी ने उनका पवित्र सिर उठाकर उसे,

किसी प्रकार, गुरुदेव श्रीगोविन्दसिंहजी के पास पहुँचाया। जब उनकी पवित्र पगड़ी खोली गई तो उसके छोर में एक पत्र मिला जिस पर अन्तिम सन्देश लिखा था—"मैंने अपना सिर बलिवेदी पर सहर्ष अर्पित किया, किन्तु धर्म का सिर सुरक्षित रखा"।

भवानी अलक्ष्येश्वरी के निर्वाण के एक वर्ष पूर्व १७२० ई० में मीर अहमद खाँ कश्मीर प्रान्त का सूबेदार था और वह भी भवानी अलक्ष्येश्वरी के उपासकों में से था और सभी सम्प्रदायों के साथ समान व्यवहार किया करता था किन्तु उसकी यह नीति तत्कालीन शेख़-उल-इस्लाम मुल्ला अब्दुलनबी को कतई पसन्द नहीं थी। यह मुल्ला कश्मीरी समाज में मुत्ता खाँन के नाम से प्रसिद्ध है। सूबेदार से नाराज होकर मुत्ता खाँन ने अपनी रज़ाकार सेना का गठन करके यहाँ के हिन्दुओं पर प्रचण्ड अत्याचार आरम्भ किए। मुत्ता खाँ की शक्ति इस कदर बढ़ी कि कश्मीर में मुगल साम्राज्य भी काँप उठा। इसकी सूचना देहली दरबार तक पहुँची और अन्त में १७२२ ई० में देहली दरबार से अब्दुल्ला समद को कश्मीर का सूबेदार नियुक्त करके भेजा गया और उसने मुत्ता खाँ के बेटे मुल्ला अशरफ को मौत के घाट उतार कर घाटी में पुनः शान्ति स्थापित की।

भवानी अलक्ष्येश्वरी को किसी भी धर्म से कोई भी विरोध नहीं था, किन्तु अन्याय, अत्याचार और बालात्कार के द्वारा किसी के विश्वास और श्रद्धा का उखाड़ा जाना उन्हें सहन नहीं था और इसका खुला विरोध उन्होंने अपने समय में किया।

कश्मीर की सांस्कृतिक-दार्शनिक परम्परा

कश्मीर-प्रदेश इतिहास के आरम्भ से ही भारतीय भू-भाग का अविभाज्य अंग रहा है। डा० अविनाशचन्द्र[1] दास ने भारतीय भौगोलिक मान-चित्र का विश्लेषण करते हुए इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है कि ऋग्वेद-संहिता के निर्माण काल में आर्य-गण पंचनद, कश्मीर, वाल्हीक (बल्ख), गान्धार, उत्तरी बिलोचिस्तान और हिमालय

१. अविनाशचन्द्र दास : गंगा-पुरातत्त्वांक, जनवरी १९३३।

के भू-भागों में पूरी तरह बस चुके थे और यही भू-भाग आर्यों का आदिवास है। अइज़क टेलर[1] का मत है कि "मनुष्य जाति की जन्म-भूमि स्वर्ग-तुल्य कश्मीर ही है।" अविनाश[2] बाबू अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में कहते हैं कि वेदों में जिन नक्षत्रों का वर्णन मिलता है उनका दर्शन ऋषियों ने कश्मीर में ही किया था।" ऐत्तरेय-ब्राह्मण में वर्णित "परेण हिमवन्तम्" अवश्य ही ध्यान देने के योग्य तथ्य है और इस कथ्य का साक्ष्य श्री मैक्डानल[3] अपने वैदिक-इण्डेक्स ग्रन्थ में स्पष्ट रूपेण कर चुके हैं कि मूजवन्त उत्तर-मद्र के स्पष्ट उत्तर में उत्तर-कुरु का स्थान ही आर्यों का आदिम स्थान होना चाहिए, और यह कश्मीर ही है। इसी प्राचीन भौगोलिक मान-चित्र को वैदिक-एज[4] के (Prehistoric and Vedic India, Page 545) लेखक ने स्वीकार किया है। श्री त्सिमर[5] और बेवर[6] का सशक्त मत यह है कि उत्तरकुरु वास्तव में और कोई स्थान नहीं है कश्मीर का ही सुन्दरतम स्थान है। ऋग्वेदिक[7] नदी सूक्त एवं निरुक्त[8] में पंजाब की सबसे बड़ी नदी "वितस्ता" का मूल उद्‌गम (Source) कश्मीर ही है।

कश्मीर अनादि काल से भारतीय आर्य-संस्कृति और सभ्यता का प्रमुख क्रीड़ा-स्थल रहा है। नील मुनि ने 'नीलमत पुराण' में इस देश की परिभाषा इस प्रकार से प्रस्तुत की है—

कं वारि हरिणा अश्मनः देशादस्मादपाकृतम्।
कश्मीराख्यस्ततो पश्य नाम लोके भविष्यति॥ २६२॥

"यह देश अतीत इतिहास की उषा में विशाल सतीसर था अतः

---

१ आ० टेलर : ऑरीजिन ऑफ दि आर्यन्स, पृ० ६।
२. अविनाशचन्द्र दास : ऋग्वैदिक इण्डिया, पृ० ५५।
३. मैक्डानल : वैदिक इण्डेक्स।
४. आर० सी० मजूमदार : वैदिक एज, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।
५. त्सिमर : आल्तिन्दिश्शेस लेबन १/१६५।
६. बेवर : इन्दिश्शे लि० गे० १०१।
७. ऋग्वेद : १०/७५/५।
८. यास्क : निरुक्त ६/२६।

नील के आग्रह पर कश्यप ऋषि ने अपने तपस्या के बल से—कं=जल को, हरिणा=निकास दिया, बहाया, अश्मनः=पत्थर से, अतः इस देश का नाम कश्मीर पड़ा।" संस्कृत व्याकरण की प्रक्रिया से भी इसी साक्ष्य की स्पष्टि होती है :—

"क+अश्म+ईर"=चट्टानों के बीच रुके हुए पानी को बहा दिया। अतः इस देश का नाम कश्मीर पड़ा। आज से सत्ताइस सौ वर्ष पूर्व काशकृत्स्न व्याकरण के आधार पर कश्मीर शब्द का मूल धातु (Root) "कशिर दीप्तौ" पर आधारित है। संभवतः यही कारण है कि कश्मीरी भाषा-भाषी कश्मीर को "कशीर" और यहाँ के निवासी को "कांशुर" कहते हैं वास्तव में यह चिरन्तन धातुज का ही व्यवहार है जो रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। भारतीय आर्य-भाषाओं में कश्मीरी भाषा ही एक ऐसी भाषा है जिसमें अभी भी वैदिक-भाषा का चिर-प्राचीन शब्द-भण्डार एवं वैदिक क्रिया का स्वरूप सुरक्षित है। श्री लक्ष्मीधर[1] कल्ला का तर्क-संगत मत यह है—"इतिहास की उषा में आर्यों ने इसी कश्मीर घाटी में वेदों का संकलन और संग्रह किया है।" उपनिषद् कालीन युग में वीतरागी ऋषियों को इस कश्मीर घाटी की नैसर्गिक सुन्दरता ने भाव-मुग्ध किया था—

"उपगह्वरे गिरीणां उपसंगमे नदीनां धियाविप्रो अजायत"

इस कथन के अनुसार यहाँ के गिरि-शिखरों ने, देवदारु के सरसराते वृक्षों की फुँगियों ने, झरझराते हुए पानी के झरनों ने, संगीत-मुखर जल प्रपातों ने, विविध रंगों की चटखती कलियों ने, लहरों में तैरते सरोवरों ने तथा अनन्त प्राकृतिक वैभव ने इन ऋषियों की गम्भीर एवं दार्शनिक पहेलियों को अपनी सहज मुस्कान में सुलझाया है।"

गुल-मर्ग (गौरी-मार्गण) की आंल-पथरं (अहिल्या-प्रस्तर) उपत्यका इस तथ्य का साक्ष्य देती हैं कि गौतम के शाप से भ्रष्ट अहिल्या इसी स्थान पर पत्थर बनी हुई अनन्त अवधि तक श्रीराम के आगमन की

---

१. लक्ष्मीधर कल्ला : दि होम आफ दि आर्यन्स (१९३०)।

प्रतीक्षा करती रही।[1] बडंगाम के दक्षिण-पश्चिम का सीता-हरण स्थान इस तथ्य का उदाहरण प्रस्तुत करता है कि रावण द्वारा सीता के अपहरण के उपरान्त वानर यहाँ भी सीता की खोज में आये थे। वाल्मीकि रामायण में भी सीता के अपहरण के उपरान्त वानर कश्मीर के गहन वनों एवं सीमाओं की चर्चा करते हैं।

महाभारत-कालीन युग में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कश्मीर आए थे और स्वर्गीय कश्मीर नरेश दामोदर की विधवा और गर्भवती-पत्नी यशोमती का मंत्र-पूत जल से, कश्मीरी ब्राह्मणों के साथ, स्वयं राज्याभिषेक करते हुए इस प्रकार की अमरवाणी का उद्घोष करते हैं—

कश्मीराः पार्वती तत्र राजाज्ञेयोहरांशजः।
नावज्ञेयः स दुष्टोऽपि विदुषा भूतिमिच्छता ।।

कल्हण, राजतरंगिणी ; प्रथम तरंग ; श्लोक ७२

"कश्मीर भूमि साक्षात् पार्वती है। इस भूमि के राजा को शिव का अंश समझना चाहिए। यदि यहाँ का राजा दुष्ट भी हो तो भी ऐश्वर्य चाहने वाले बुद्धिमान को कभी भी उसका विरोध नहीं करना चाहिए।"

बौद्धकालीन भारत में कश्मीर का महत्व एक विशिष्ट रूप में उभरा। महाराजा अशोक के समय में कश्मीर के ब्राह्मण बौद्ध-सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार करने के लिए चीन, मंचूरिया और मंगोलिया इत्यादि देशों को गए थे। तिब्बत को उन्होने अपना प्रमुख केन्द्र ही बना लिया था। यही कारण है कि यह माना जाता है कि कश्मीर की शारदा लिपि ने ही तिब्बत की लिपि को जन्म दिया है[2]। कश्मीर स्वयं शाक्त-प्रधान देश होने के कारण उसने बौद्ध-धर्म को भी शाक्त-मत से प्रभावित किया अतः बौद्धधर्म का अष्टाङ्ग आर्य-व्रत शाक्त और तंत्र के सम्मिश्रण से एक अभूत-पूर्व बौद्ध धर्म बनकर लद्दाख और ल्हासा पहुँचा। बौद्ध

---

१. 'गौरी-मार्ग महात्म्य' के अनुसार यह कश्मीर में प्राचीन काल से प्रचलित मान्यता है।

२. देखिए अँग्रेजी हिन्दी कोश, डा० रघुवीर (भूमिका)।

धर्म के चिन्तन-मनन के धरातल में कश्मीर का महान योगदान रहा है। श्रीनगर की पूर्व दिशा में थीद ग्राम है जहाँ महाराजा हरीसिंह जी ने अपना राजभवन बनाया है और जो अब ओबिराय होटल है। इसी थीद ग्राम में आचार्य नागसेन और बुद्धसेन ने थेरी-गाथा की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि का निर्माण किया था जिसको नागार्जुन ने आगे चलकर सफल सिद्धान्त के रूप में पल्लवित किया। श्रीनगर में बौद्धों के प्रमुख केन्द्र दशगिरा (जहाँ बुद्ध धर्म के आठ अंग तथा शाक्त और तंत्र को मिलाकर दस प्रकार की विद्याएँ पढ़ाई जाती थी) और बुद्धगिरा (आधुनिक बोदगेर—नवाकदल के ऊपर) में उत्तर-पूर्व एशिया के बौद्ध-भिक्षु आकर विद्यालाभ (ईसा की तेरहवीं शती तक) करते रहे हैं। इसका विवरण ह्यू-नुत्साँग के यात्रा-वर्णन में भी मिलता है। बौद्धों की दो प्रमुख सभाओं का श्रेय कश्मीर के इतिहास को मिला है। पहिली सभा सम्राट अशोक के समय में सम्पन्न हुई, जिसका आयोजन पुराणाधिष्ठान (आधुनिक पांद्रेठन्) के पास हुआ था और श्रीनगर नगरी का शिलान्यास भी इसी सभा में हुआ था। अब भी बादामी-बाग का पत्थरों का मन्दिर सम्राट अशोक की स्मृति को दोहराता है। कुशान वंशीय सम्राट कनिष्क के समय में बौद्धों की बृहत्-सभा अर्हत-वन (आधुनिक हारवन) और कुण्डिन्पुर (आधुनिक कण्यपूर) में हुई और सभा में निर्णीत बौद्ध-सिद्धान्तों को ताम्रपत्रों पर खुदवाकर श्रीनगर के उत्तर में सूर्य-बिहार (आधुनिक सोवुर) के पास और वैचारिक-विहार (आधुनिक विचार-नाग) और गुंज्जा-विहार (आधुनिक गोजवोर) के मध्य गाढ़ दिया गया था। कश्मीर की घाटी ने बौद्ध-धर्म का बटवारा होते भी देखा है क्योंकि कनिष्क की ही आयोजित सभा में बौद्ध-धर्म हीनयान तथा महायान में विभाजित हुआ था।

समय की थपकियों से कश्मीर का शाक्त-सम्प्रदाय शैव-दर्शन की भूमिका पर उभर आया। इस नवीन दर्शन ने एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। इस दर्शन में जड़-अजड़, जीव-ब्रह्म, व्यक्ति-चेतना (Individual consciousness) और विश्व-चेतना (universal-

consciousness) इन सब का नये सिरे से मूल्यांकन होने लगा। आरम्भ में इस दर्शन के निर्माता गुप्त रूप में रहा करते थे किन्तु जब बौद्ध-धर्म में भिक्षु-भिक्षुणियों के आचरण में एक चरम सीमा का नैतिक (Moral) पतन आ गया और धर्म के नाम पर वेश्या-वृत्ति का व्यवहार नग्न रूप में फैलने लगा तो इस पतन की अवस्था से जनता का उद्धार करने के लिए शैव-दार्शनिकों को जनता के सामने आना पड़ा। भारत में जहाँ शंकराचार्य के उपरान्त सृजनात्मक चिन्तन (Creative thinking) में एक शून्य सा उभरने लगा था, वहाँ कश्मीर के चिन्तक और दार्शनिक एक नई व्याख्या के लिए तैयारी कर रहे थे। शैवदर्शन का यह नवीन चिन्तन जीवन की आस्था के प्रति निषेधात्मक (Negative) न होकर स्वीकारात्मक (Positive) अधिक था। अतः षट्-दर्शनों की उदासीनता और तटस्थता का बहिष्कार करके शैवदर्शन ने एक सह-अस्तित्व के वातावरण में जीवन के मूल्य को आंका और विवेचन के नवीन द्वार का उद्घाटन किया। इस में जगत, जीव, और ब्रह्म की नवीन व्याखया है। जहाँ तीनों का एक घनिष्ट सम्बन्ध है और वे एक दूसरे के पूरक के रूप में बँधे हैं। शिव स्वतंत्र है, शक्ति शिव का स्वच्छन्द हृदय है और नर अथवा जीव ,शक्ति का विकास है। किन्तु शिव इस सृष्टि के वैविध्य को माला के दानों के समान एक ही सूत्र में धारण करके गृहण करता है। यह मानवीय मनोविज्ञान की एक सूक्ष्मतम सूझ और मोक्ष का एक नवीन उद्घोष है। कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन और स्पन्द-वाद ने समस्त ब्रह्माण्ड की चेतना को एक स्पन्द मानकर अॅबलर्ट आइनस्टीन की 'थ्योरी आफ रिलेटिविटी' (सापेक्षवाद) को ग्यारह सौ वर्ष पूर्व ही ललकार कर कहा था। इस परम्परा में ये दार्शिनिक विशेष उल्लेखनीय है—

आचार्य वसुगुप्त, आचार्य सोमानन्द, भट्ट कल्लट, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त, खेमराज, भास्कराचार्य, शिवोपाध्याय, साहिब कौल और अन्तिम आचार्य, गुरुदेव श्रीराम। आध्यात्मिक व्याख्याता की दृष्टि से स्वामी गोविन्द कौल और स्वामी विद्याधर का योगदान भी उल्लेखनीय है। शास्त्रीय व्याखयाता की दृष्टि से म० म० मुकुन्दराम

शास्त्री, स्व० मधुसूदन शास्त्री (साहिब) विशेष रूप ने उल्लेखनीय हैं। स्व० आचार्य हरभट्ट शास्त्री खेमराज की परम्परा में अन्तिम भाष्य-कार हुए है।

लिपि-बद्ध इतिहास की परम्परा में कश्मीर का स्थान समस्त भारत में गौरव शाली है ; यह नील मुनि के 'नीलमत-पुराण' से आरम्भ होकर, सुव्रत की 'राजकथा' क्षेमेन्द्र की 'नृपावली', हेलराज की 'पार्थिवावली' पद्ममिहिर की 'राजसूची', छविल्लाकर के 'अशोक चरित', कल्हण की 'राजतरंगिणी' जोनराज की 'जोनराज-तरंगिणी' श्रीवर, शुक, प्राज्य भट्ट की 'राजतरंगिणी' तक चलती है।

कश्मीर संस्कृत साहित्य का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। यदि कश्मीर के संस्कृत-साहित्य के योगदान को शेष भारत से काट दिया जाय तो भारतीय संस्कृति का संस्कृत-साहित्य पंगु हो जायगा। कश्मीर का यह योगदान इतना गौरवशाली है कि आधुनिक भारत का कोई भी प्रदेश इसकी तुलना नहीं कर सकता है।

श्री जोनराज की 'राजतरंगिणी' के अनुसार ई० १३३९ में कश्मीर में कश्मीरी हिन्दू-साम्राज्य का अन्त हुआ और इस्लाम की प्रभुसत्ता स्थापित हुई। कश्मीर की दीर्घकालीन हिन्दू-सभ्यता और संस्कृति में परा-भव के वे लक्षण महापण्डित कल्हण के समय से ही परिलक्षित होने लगे थे जब कि कश्मीर गृहयुद्ध में बुरी तरह से उलझा हुआ था और इसी आपसी फूट से खीझकर महापण्डित कल्हण श्रीनगर से भागकर अपने अन्तिम दिन नन्दिक्षेत्र (आधुनिक नारान्-नाग, जो कङ्गन से होते हुए वांगत के आगे पड़ता है और जो भूतेश्वर अथवा "बूथ्यहेर" पर्वत की तलहटी में स्थित है ; जिसके सामने हरमुकुट गंगा का जल बहता है) में बिताने गया था। जातीयता की संकीर्णता, ब्राह्मणों की अदूर-दर्शिता, आपसी-फूट, विलासिता की चाट और आवारागर्दी का वाता-वरण, ये सब ही विनाश के प्रत्यक्ष लक्षण थे। अतः कोटारानी की हत्या के उपरान्त कश्मीर में हिन्दू-साम्राज्य का पतन हुआ और शाहमीरी मुसलमान साम्राज्य की नींव पड़ी।

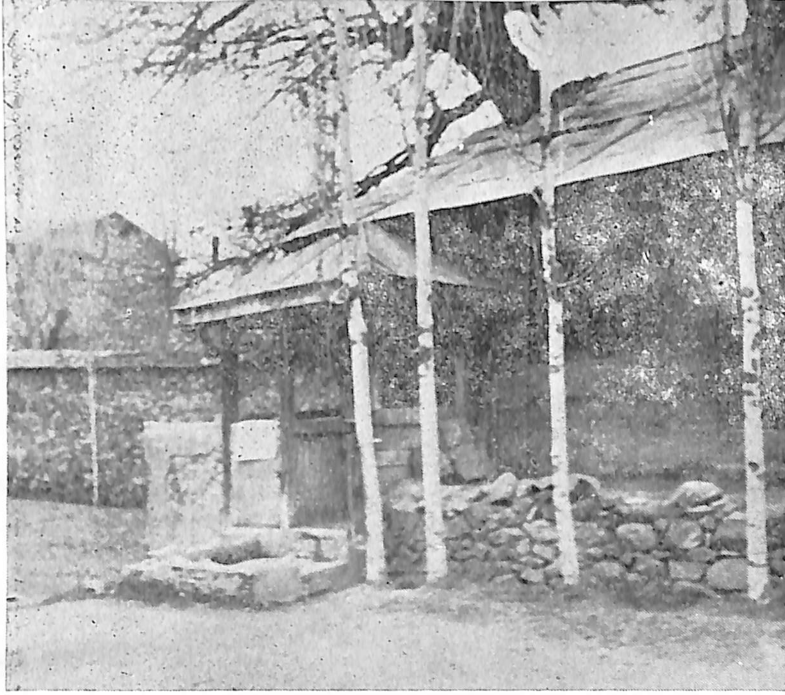
ईसवी चोदहवीं शती के अन्तिम चरण में सन्ता लल्लीश्वरी और

सन्त नुन्द ऋषि का एक समन्वयात्मक युग कश्मीर के इतिहास में आया। दो विभिन्न संस्कृतियों में (अर्थात् हिन्दू और मुसलमानों में) खून-खराबी की आशंका से लल्लीश्वरी और नुन्द ऋषि ने समन्वय का मार्ग निकालकर हिन्दू-मुसलमानों के लिए मैत्री और सद्भावना का एक मंगलमय द्वार खोला जिसकी परछाईं आगे जाकर भारत के उत्तराखण्ड में कबीर आदि ने सक्रिय रूप में उपस्थित की। मुसलमानी युग में सिकन्दर बुतशिकन का युग हिन्दू संस्कृति के लिए विनाश का युग रहा है किन्तु उसके बेटे सुरत्राण बडशाह जैनुल्आबदीन का युग श्री शर्यभट्ट के संगम से वितस्ता और सिन्धु का संगम बनकर सभी कश्मीरियों के लिए एक स्वर्णयुग बन गया था। इसी युग में भट्ट अवतार ने कश्मीरी भाषा में "बाणासुर—कथा" नामक खण्ड-काव्य की रचना की। सुल्तान हसन शाह के समय में भट्ट गणकप्रशस्त ने कश्मीरी भाषा में "संसार माया जाल और सुख-दुःख-चरित" की रचना की।

ईसा की सोलहवीं शती में कश्मीरी लोकगीतों की एक सुन्दर संयोजना विरह विदग्धा हब्बा खातून की भावुक कल्पना ने प्रस्तुत की और कश्मीरी में गीत-साहित्य को एक विशेष स्थान प्रदान किया। इसके बाद ईसा की सत्रहवीं शती में अलक्ष्येश्वरी श्रीरूपभवानी का आविर्भाव हुआ।

अलक्ष्येश्वरी श्री रूपभवानी का जीवन-वृत्त

पीछे दिये हुए सांस्कृतिक विवरण से हमारा तात्पर्य, मात्र यह है कि अलक्ष्येश्वरी को विरासत में एक असाधारण ऐतिहासिक और साहित्यिक सम्पत्ति मिली थी। सिद्धाभवानी के लिए सन्ता ललद्यद और सन्त नुन्द ऋषि का धर्म-निरपेक्ष स्वतंत्र आध्यात्मिक क्षेत्र प्रशस्त था। सूफी सन्तों की उत्कट अलौकिक प्रणय-पीड़ा नूर और ज़हूर (प्रकाश और विमर्श) से भाव-विभोर होकर उनका अह्वान कर रही थी। शैव-दर्शन का प्रकाश और विमर्श मार्ग-आलोक के लिए चिर-प्रतीक्षा में बैठा था और कश्मीर का क्षुब्ध इतिहास युगों से प्रसुप्त मानवता को एक अविस्मरणीय थाती की भेंट करने के लिए बेचैनी से



नवाकदल (श्रीनगर) में रूपभवानी का जन्म-स्थल।



वितस्ता तट पर स्थित, श्रीनगर में देवी रूपभवानी का वार्षिक श्राद्ध रचाये जाने का स्थल। यहीं पर यज्ञशाला है और अलख-साहिबा ट्रस्ट का कार्यालय भी है।

प्रतीक्षा कर रहा था। इन्ही परिस्थियों में कश्मीर के चिर प्रसिद्ध प्रद्युम्न-पीठ के प्रवरसेन नगर[1] में दिद्दमर (आधुनिक सफाकदल) के स्थान पर सप्तर्षि शुभ संवत् ४६६६ (विक्रमादित्य संवत् १६७७, ईस्वी सन् १६२१) माधवी ज्येष्ठ पूर्णिमा के दिन, भक्त-शिरोमणि श्रीमान् माधवजू दर के यहाँ विष्णुमाया भगवती रूप-भवानी का मंगलमय जन्म हुआ।

श्रीमाधवजू दर अपनी आस्था और साधना के कारण अपने परिवार में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनकी दिन-चर्या ऋषियों की सी थी और आचरण में वे सामान्य व्यक्तियों के समान थे। उनकी आराध्या चक्रेश्वर-वासिनी भवानी शारिका थीं जिनकी परिक्रमा के लिए वे अर्धरात्रि को ही स्नान-संध्या से निवृत्त होकर शारिका पर्वत (हारी पर्वत) जाते थे। वे सर्वप्रथम व्यक्ति होते थे जो चक्रेश्वर के पावन पूजा-स्थान पर प्रभात को ही पहुँच जाते थे। आश्विन शुक्ल पक्ष प्रतिपद्य (एकम्) विक्रमादित्य संवत् १६७६, नवदुर्गा पूजा के पहिले दिन श्री माधवजू दर आधी रात के करीब ही चक्रेश्वर (हारीपर्वत) पहुँचे। संभवतः नवदुर्गा पूजा के कारण अथवा मुगलों के भय के कारण उनका चक्रेश्वर के प्रद्युम्न-पीठ पर जल्दी आना रहा होगा। पूजा समाप्त करने के उपरान्त श्री दर महोदय के सामने एक दिव्य और अलौकिक कन्या उपस्थित हुई। श्री दर महाशय को इस अलौकिक एवं तेजस्वी कन्या को देखकर अपार हर्ष और औत्सुक्य हुआ। वे अपनी सुध-बुध खो बैठे। कण्ठ गद्गद् हो गया और नेत्रों से आँसू टपकने लगे। इसके बाद इस कन्या ने पद्मासनासीन श्री माधवजू दर के दाहिने घुटने पर अपना आसन जमाया। भक्त अपने आराध्य के इस व्यवहार को देखकर द्रवीभूत हो उठा। उन्होंने ताड़ लिया कि महामाया भगवती स्वयं कन्या का स्वरूप धारण करके उनके दाहिने घुटने पर बैठ गई हैं। श्री माधवजू दर ने नव-रात्रि-पूजा पद्धति से नव वर्षीया शारिका की पूजा की और सनम्र होकर क्षमा-पुष्प प्रस्तुत किए। अन्त में पितृ-वात्सल्य

---

१. वर्तमान सौवूरा से लेकर छतबल तक।

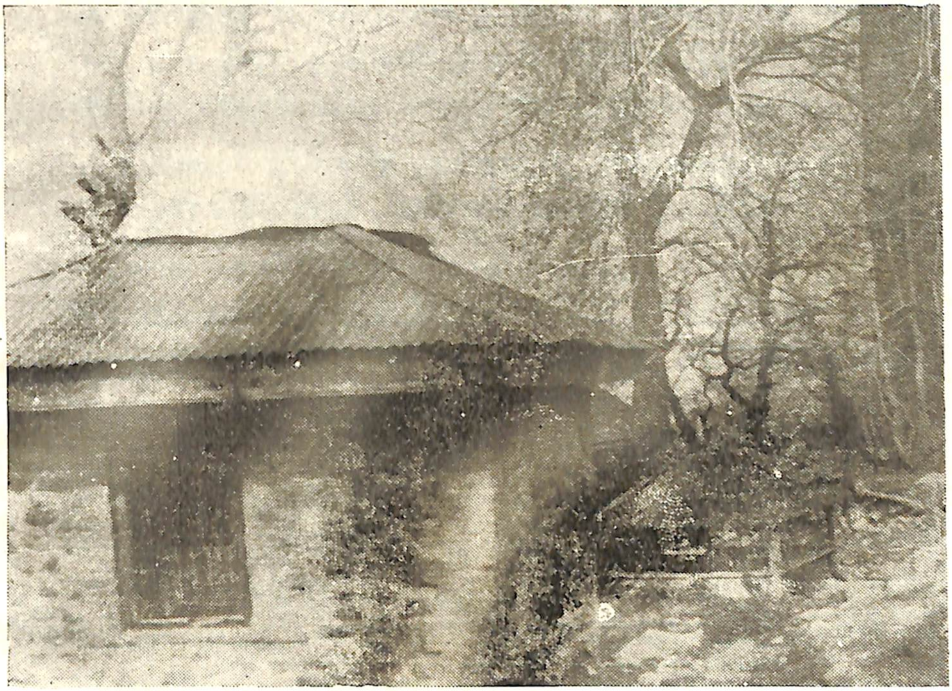
के अनुरूप नैवेद्य खिलाया। महामाया शारिका स्वयं भक्त की सरलता एवं तत्परता से भाव विह्वल हो उठीं और माधवजू से वर माँगने के लिए कहा। किन्तु समर्पित भक्त क्या माँगता और मांगने के लिए अब रहा ही क्या था। भक्त माधव ने स्नेहमयी पुत्री के रूप में जगदम्बा का साक्षात्कार किया था अतः पुत्री-स्नेह की भावविभोरता में वह केवल इसी स्वभाव का वर मांग सका—"इसी कन्या-रूप में मेरे यहाँ जन्म धारण करो।" भक्त की माँग यद्यपि महान् थी परं भक्त के हेतु जगदम्बा को यह माँग बहुत छोटी अनुभव हुई। देवी अन्तर्ध्यान हो गई।

इसी वर्ष मल मास और भानुमास के कारण दो कार्तिक थे अतः ज्येष्ठ शुद्धि प्रतिपदा (ओंकदोह) विक्रमादित्य संवत् १६७७ को भवानी अलक्ष्येश्वरी को गर्भ में नौ महीने पूरे हुए और ज्येष्ठ-पूर्णिमा को गर्भ-वास का दसवाँ महीना चल रहा था, इसी दिन भगवती अलक्ष्येश्वरी का जन्म वृश्चिक राशि पर हुआ। चन्द्रमा नीच गत होकर सातवें घर में बैठा था अतः विवाह होने के उपरान्त भी विवाह का सुख प्राप्त नहीं हुआ जो वास्तव में महामाया शारिका का ही विधि-विधान था।

सिद्धा-भवानी का बाल्य-काल असाधारण भाव-बोध में पल्लवित हुआ क्योंकि सन्त माधवजू दर के यहाँ प्रायः देश-विदेशों के चोटी के सन्त-महात्मा आया करते थे। अतः आध्यात्मिक-वातावरण में ही अलक्ष्येश्वरी के बचपन की भावभूमि बनी। उस समय मुसलमानों के आतंक के कारण कन्या का विवाह छोटी अवस्था में ही हुआ करता था अतः भयानक राजनैतिक परिस्थितियों के कारण श्री दर महोदय ने हब्बाकदल के समीप ही सप्रू परिवार में अपनी बिटिया का विवाह विधिवत् सम्पन्न किया।

अलक्ष्येश्वरी के जन्म के समय कश्मीर में उच्चकोटि के एक परंहंस बड़े ही प्रसिद्ध थे। लोग कई नामों से उन्हें पुकारते थे— सिद्धभूति, विद्याधर भगवान आदि। वास्तव में इनका नाम सिद्ध-विभूति था और ये गणपतयार (गणपति विहार) के पास ही रहते थे। अब भी गणपतयार में सिद्ध-परिवार के लोग रहते हैं और इनका जाति-नाम (Surname) अब भी 'सिद्ध' ही है। उस समय कश्मीरी जनता

चश्मा-साहिबी का अस्थापन (वस्तरवन)



यह अलक्ष्येश्वरी श्री रूपभवानी का प्रथम तपस्यास्थल है। यह स्थान परी-महल की पहाड़ियों पर (राजभवन के निकट) चश्माशाही के पास है।

उनके चमत्कारों से अत्यधिक प्रभावित थी किन्तु सिद्धविभूति कभी भी अपनी कुटिया से बाहर नहीं निकलते थे। संयोग से एक भक्त ने एक दिन प्रभात को ही उपहार के रूप में उन्हें खीर का बड़ा कटोरा भेंट किया। सौभाग्य से यह वही दिन था जब कि भवानी के पिता ने अपनी प्रिय-पुत्री के लिए अन्नप्राशन का मुहूर्त्त देखा था। इस दिन बच्ची को पहिली बार खीर खिलाते हैं। सिद्धविभूति ने खीर का कटोरा उठाकर दिद्दमर का रास्ता लिया और सन्त माधवजू के यहाँ पहुँचे। अपने हाथ धोकर स्वयं अपने हाथों से भवानी अलक्ष्येश्वरी को खीर चखाते हुए पंचस्तवी का यह श्लोक उन्होंने गुनगुनाकर गाया:—

"विप्राः क्षोणिभुजो विशस्तदितरे क्षीराज्यमध्वासवैः
त्वां देवि ! त्रिपुरे ! पराऽपरमयीं सन्तर्प्य पूजा विधौ"।

अर्थात्—हे तीन भवनों को पूर्ण करने वाली त्रिपुरा भगवती ! तुम्हे ब्राह्मण दूध से, क्षत्रिय घी से, वैश्य शहद से और जीवन्मुक्त सन्त अपनी भक्ति की मादकता की शराब से स्थूल और सूक्ष्म पूजा विधि में सन्तुष्ठ करते हैं।"

भवानी अलक्ष्येश्वरी ने भक्त की विह्वलता को देखकर बड़े स्वाद से खीर को चखा और सिद्धविभूति भी प्रसाद का अवशेष लेकर घर लौट आये। यही सिद्धविभूति दूसरी बार भवानी के विवाह के समय लग्नमण्डप पर वयं ही बिना बुलाये गये थे और भवानी का पाणिग्रहण (कश्म० अथंवास) होते देखकर पंचस्तवी का यह श्लोक गुनगुनाया था :—

"विवाहाज्जायासीत्यहह चरितं वेत्ति तव काः"

अर्थात्—"हे देवि ! विवाह करके पत्नी बनती जा रही हो। अहा आश्चर्य है ! तुम्हारे इस चरित को कौन जान सकता है।"

विवाह के उप रान्तभवानी का पारिवारिक जीवन सुख से नहीं बीत सका। एक ओर तो उनका पति हीरानन्द सप्रू जड़-बुद्धि वाला व्यक्ति था दूसरी ओर उनकी सास सोंपकुजी (सम्पति कुन्ज) क्रूर स्वभाव की महिला थी। भवानी को पारिवारिक सुख नहीं के बराबर

था। सास का आरोप था कि बहू आधीरात के समय न जाने कहाँ चली जाती है। पति भी इस आरोप से शंकालु बन गया। वास्तविकता यह थी कि आधीरात के समय भवानी हाथ-मुख धोकर शेर पर चढ़ कर शारिका भगवती के पीठ चक्रेश्वर चली जाती थी। एक दिन उनके पति ने उनका पीछा किया। भवानी यह जानती थी। जब भवानी हारी-पर्वत के पास पहुँचीं तो मुड़ कर उन्होंने पतिदेव को अपनी ओर आने का संकेत किया किन्तु अज्ञानी हीरानन्द को लगा कि भवानी और उसके बीच एक अपार सरोवर है जिसको पार करना उसके लिए असंभव है। अतः वह निराश होकर वापस घर लौट आया। इसी प्रकार एक दिन पानी का एक बड़ा सा घड़ा अपने सर पर रखकर भवानी अपनी गली पारकर रहीं थीं कि उनकी नज़र अपने सुसराल के पुरोहित पर पड़ी। यह बेचारा अभी पन्द्रह वर्ष का ही था। पिता के मरने के कारण अभी अच्छी तरह कर्मकाण्ड पढ़ भी नहीं पाया था, किन्तु वृत्ति के लिए जजमानों के यहाँ विवशता से जाया करता था। उस दिन वह भवानी की ससुराल में, विशेष किसी उत्सव के कारण, गया था किन्तु कर्मकाण्ड की जानकारी न होने के कारण भवानी के ससुर ने उसे अपमानित करके घर से निकाल दिया था। गली के नुक्कड़ पर खड़ा वह फूट-फूट कर रो रहा था। सर्वज्ञा भवानी ने सब कुछ जान लिया। उन्होंने दया करके उस व्याकुल बालक को सभी विद्याओं के ज्ञान का वरदान दिया और उसकी बाँह पकड़कर अपनी ससुराल के घर ले गईं। ससुर जी चुप ही रहे क्योंकि उन्हें भी अपने किए पर कुछ पछतावा सा हो रहा था। फिर वहाँ एक आश्चर्य घटित हुआ। ज्योंही पुरोहित बालक अन्दर घुसा त्योंही वह संस्कृत भाषा में धारावाहिक रूप से बोलने लगा। वहाँ जो भी पठित-पण्डित बैठे थे उन्हे अजीब हैरानी हुई कि घड़ी भर में ही कैसे यह इस कोटि का विद्वान् बन गया।

एक दिन किसी उत्सव के उपलक्ष्य में सन्त माधवजू दर ने अपनी बेटी की ससुराल खीर की एक डेगची भेजी। सासजी का स्वभाव था कि कोई न कोई नुक़्स निकालकर बहू को परेशान करना, अतः वे

बोलीं—"इस एक खीर की डेगची को किस किस को बाँटूँ ? मेरे तो रिश्तेदार इतने हैं, किसे भेजूँ किसे नहीं भेजूँ।" भवानी ने कहा—"आप भेजती जाइए लेकिन ऊपर का ढक्कन मत हटाए।" सासजी भेजती गईं परन्तु खीर कम न हुई। अन्त में सासजी ने दूर-दूर के रिश्तेदारों को भी भेजना आरम्भ किया किन्तु खीर-सागर के समान डेगची की खीर वहाँ की वहीं रही। आखिर क्रोध में बावली होकर सास ने ढ़क्कन उठाकर अन्दर झाँका ; वहाँ तली में थोड़ी सी खीर बची थी। दूसरे दिन भवानी ने प्रभात को डेगची माँज कर वितस्ता नदी के बहते प्रवाह में यह कह कर छोड़दी—"मेरे पिताजी दिद्दमठ के दिद्द विहार घाट पर सन्ध्या-वन्दन कर रहे हैं, वहीं रुकना।" बहती हुई डेगची ठीक स्थान पर रुकी और सन्त माधवजू डेगची को उठाकर अपने घर ले गए।

इन अलौकिक चमत्कारों को, एक बार नहीं अपितु अनेक बार देखने के उपरान्त भी सासजी टस से मस नहीं हुईं और न पतिदेव ही अज्ञान की नींद से जागे। अन्त में भवानी अलक्ष्येश्वरी अपनी ससुराल से 'अलक्ष्या' बन कर वहाँ से निकलीं। यह भवानी का "महा-भिनिष्क्रमण" कहलाता है। इसके उपरान्त भवानी ने पितृ-गृह और पति-गृह दोनों का परित्याग करके अपने आत्मा-रूपी घर को स्थायी गृह बनाकर उसी की चर्चा में अखण्ड तपस्या आरम्भ की ; यद्यपि उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं थी किन्तु लोकाचार के लिए एक ज्वलन्त दृष्टान्त उन्हे स्थापित करना था :—

भवानी अलक्ष्येश्वरी की साधना :

चश्मा साहिबी—यह स्थान श्रीनगर के पूर्वोत्तर में पड़ता है। इसका प्राचीन नाम "ज्येष्ठ रुद्रा" है। यह वात्स्य-पर्वत (कश्मीरी "बछ़िबाल") की तलहटी में स्थित है। यहाँ एकान्त देखकर भवानी ने अपनी साधना के लिए इसी स्थान को चुना। भवानी ने यहाँ साढ़े बारह वर्ष तक कठोर तपस्या की और अन्त में श्रद्धालु भक्तों की भीड़ के कारण इस स्थान को छोड़कर मणिगाँव को अपना साधना-स्थल बनाया।

मणिग्राम—यह स्थान कश्मीर के उत्तर में है। यहाँ के पहाड़ की तलहटी के पास एक जलकुण्ड है जिसका नाम उत्शन-नाग है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' में इस स्थान का प्राचीन नाम "गंगा-उत्तीर्ण-ईशान" है। हर-मुकुट गंगा का पानी यहाँ नीचे धरातल से सरकता है। यहाँ श्रावण शुद्धि द्वादशी को स्नान-पर्व का मेला भी लगता है। भवानी ने यहाँ देवदारु के झुरमुट में अपनी साधना-कुटीर बनाई और वे यहाँ अखण्ड तपस्या में संलग्न हुई। यहाँ की एक विचित्र घटना से भवानी की उपस्थिति की जानकारी मणिगाँव के लोगों को हुई। मणिगाँव की इस पहाड़ी के नीचे एक ग्वाला अपनी गायों को चराने ले जाता था। कुछ समय बाद उस ग्वाले को लगा कि एक गौरी गाय मध्याह्न की वेला में पहाड़ के एक विशेष स्थान पर जाकर पुनः लौट आती है। ग्वाला शुरू शुरू में इसे साधारण बात समझ कर टालता रहा किन्तु एक दिन उसने गाय का पीछा किया और देखा कि देवदारु के झुरमुट के सामने गाय रुक गई है और एक गैरिक-वसना स्त्री (जिसके बाल बिखरे हुए है, मुख पर सूर्य समान अपार तेज टपक रहा है और आँखों से दिव्य ज्योति फूट रही है) ने अपनी साधना-कुटीर से निकलकर गाय के स्तनों को धोया और फिर एक वर्तन थनों के नीचे रख दिया। फिर गाय ने मंत्र-मुग्ध की तरह स्वयं ही स्तनों से दूध बहाया। बर्तन दूध से भर गया और तपस्विनी ने धीरे से बर्तन को उठाया और पत्थर पर रख दिया फिर गाय को चूमकर उसे जाने की आज्ञा दी और अपनी कुटीर में लौट गई। ग्वाला तपःपूत मूर्त्ति को देखकर सुधबुध खो बैठा। कुछ समय के उपरान्त जब वह चेत में आया तो धीरे-धीरे नीचे आया। संध्या के समय ग्वाले ने इस गाय को दुहा तो दूध की मात्रा अप्रत्याशित रूप से अधिक निकली। एक दिन ग्वाले ने यह सारी घटना मणिगाँव के नम्बरदार लालचन्द्र से कह सुनाई। लालचन्द्र ने भी लुकछिप कर इस दिव्य तपस्विनी का दर्शन किया। अब लालचन्द्र भवानी के यहाँ नित्यप्रति आकर उसकी सेवा-अर्चना में जुट गया। इस समय तक भवानी ने अपनी तपश्चर्या के साढ़े बारह वर्ष पूरे कर लिए थे। अब लालचन्द्र भवानी से अपने घर चलने के लिए आग्रह

वीतशन (मणिगाम) का चमत्कार



देवी रूपभवानी के पात्र में गौ का स्वयं दुग्धदान।



मणिगाम स्थित देवी रूपभवानी का साधना-कक्ष।

करने लगा किन्तु भवानी टालती रही। परन्तु जब लालचन्द्र ने भवानी की कुटीर पर प्रायोपवास (भूख-हड़ताल) कर दिया तो अन्त में भक्त-वत्सला भवानी ने लालचन्द्र की प्रार्थना को स्वीकार करके एक शर्त रखी कि "मैं तुम्हारे घर से कभी भी नहीं निकलूँगी परन्तु जब तुम मुझे निकालोगे तो फिर कभी भी लौट कर नहीं आऊँगी।" भक्त लालचन्द्र इस उत्तर से कृतकृत्य हो गया और भवानी लालचन्द्र के घर आ गईं।

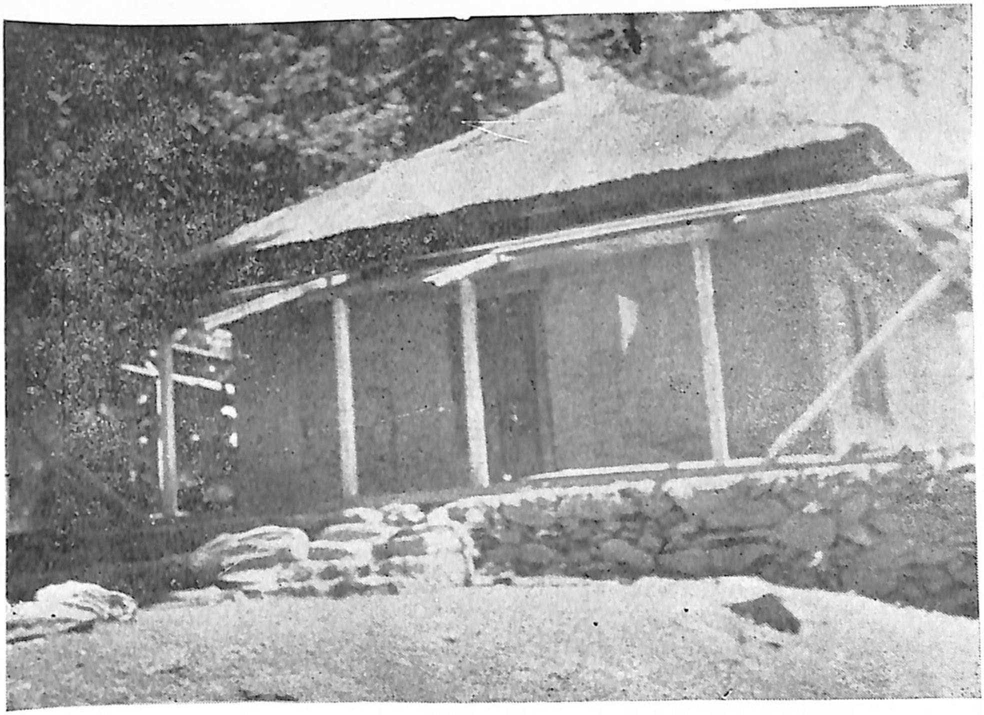
भवानी अलक्ष्येश्वरी के घर आने पर लालचन्द्र अपार-आनन्द और उत्साह से भवानी की सेवा में प्रत्येक क्षण तैनात रहने लगा किन्तु कुछ अनहोनी घटनाएँ विचित्र रूप से घटने लगी। लालचन्द्र, जो भवानी के आने से पूर्व एक हरी-भरी जिन्दगी बिताता था धीरे-धीरे मुसीबतों के चक्कर में उलझता गया। अकाल पड़ा। लालचन्द्र बेचारा दीन-हीन बना हुआ केवल माँ की सेवा में मग्न था। आखिर में माँ भवानी से रहा नहीं गया उन्होंने घर के अन्तिम धान के मटके को मँगाकर उसे आज्ञा दी कि "सारे गाँव में धान को बाँट दो परन्तु मटके के अन्दर झाँकना नहीं।" लालचन्द्र गाँव के सारे रहने वालों को शाली बाँटते-बाँटते थककर चूर-चूर हो गया। तीन दिन और तीन रात तक वह बाँटता गया और अन्त में जब सबों के धानागार भरपूर हो गए तो लालचन्द्र ने अपने घरवालों को देना शुरू किया वहाँ भी जब धान की कुटिया भरपूर हो गई तो भवानी की आज्ञा से लालचन्द्र ने मटके में झाँका ओर झाँकता ही रहा। भवानी स्वयं मटके में अन्नपूर्णा का स्वरूप धारण किये अन्न बाँट रही थी। कहते हैं लोगों ने सैंकड़ों मन शाली बटोर कर अपने धान-भण्डारों में भरी थी। अन्नपूर्णा स्वरूप के प्रकटन से भवानी की प्रसिद्धि चारों तरफ फैल गई। भवानी अब लालचन्द्र के घर को छोड़ना चाहती थीं किन्तु लालचन्द्र की सेवा, नम्रता और याचना के कारण छोड़ने का कोई भी उपाय नहीं था। अन्त में भवानी वहाँ से निकलने के लिए बड़ी ही व्यग्र हो उठी, क्योंकि भवानी को एकान्त की अभिलाषा थी और लालचन्द्र का घर, परिवार के सदस्यों से भरा पूरा था। अतः एक दिन भवानी ने अपनी ही माया का विस्तार करके वहाँ से निकलने का रास्ता ढूंढ निकाला। एक दिन

शाम के समय लालचन्द्र के घर में अचानक आग लग गई। लोगों ने दौड़-दौड़कर लालचन्द्र के सामान को निकालना शुरू किया किन्तु लालचन्द्र स्वयं भवानी को उस मकान से निकालने के प्रयत्न में लगा था परन्तु भवानी निकलने का नाम ही नहीं लेतीं थीं। इस ओर आग की लपटें जोर पकड़ रहीं थी उस ओर लालचन्द्र किंकर्त्तव्य-व्यामूढ़ सा भवानी से घर से निकलने की प्रार्थना कर रहा था। परिस्थिति बड़ी विषम और शोक-जनक हो रही थी। अन्त में लालचन्द्र माँ-भवानी को अपने कन्धे पर उठाकर किसी प्रकार से आग की लपटों से बचाते हुए घर से बाहिर ले आया। नीचे आसन बिछाकर भवानी को बिठाया। किन्तु यह क्या ? न तो कहीं आग और न एक चिन-गारी। शोर-शरावे में डूबी जनता यह देखकर चकित रह गई। आस-पास के पड़ोसी इस चमत्कार को देखकर भवानी के पैरों से लिपट गए। निरीह लालचन्द हाथ जोड़कर अर्जुन के समान अपनी गद्‌गद् वाणी में मानों कह रहा था :—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ।।

अलक्ष्येश्वरी ने भुवन-मोहनी मुस्कान से लालचन्द की ओर देख-कर कहाँ—"तुमने मुझे घर से निकाला है। प्रतिज्ञा-भंग होने के कारण अब यहाँ रहना संभव नहीं है। अब मेरे रहने की कुटीर शाहकॊल नदी के उस तट पर होगी।" इस प्रकार भवानी लालचन्द के घर से निकल कर शाहकॊल नदी के तट पर बनी कुटीर में निवास करने लगीं। इस कुटीर में भवानी ने चिरकाल तक गहन तपस्या करके अपार ज्ञान की प्रभा प्राप्त की।

भवानी कभी-कभी जल में घास की चटाई पर बैठकर शाहकॊल नदी के प्रवाह से 'वोतंलार' (उत्तुङ्ग लहर) स्थान तक आया-जाया करतीं थीं। वोतंलार स्थान में उस समय एक मुसलमान सन्त रहा



देवी रूपभवानी का लार नामक गाँव में स्थित साधना-कक्ष।



अलक्ष्येश्वरी श्री रूपभवानी अपने पिता तथा गुरु श्री माधवजू दर से दीक्षा ले रहीं हैं।

करते थे जिनका नाम 'शाहकलन्दर' था। शाहकलन्दर के शिष्यों ने पानी प्रवाह में चटाई पर बैठी हुई भवानी को कई बार देखा था और इसकी चर्चा शाहकलन्दर से भी की थी। एक दिन शाहकलंदर नदी के किनारे धूप सेंक रहे थे और उनके मन में भवानी के साक्षात्कार का बड़ा ही कुतूहल था। दैव-संयोग, उसी समय भवानी चटाई पर बैठी हुई पानी के प्रवाह में चली आ रहीं थीं। शाहकलन्दर ने दूर से ही देख लिया और सतर्क होकर भवानी से पूछा :

शाहकलन्दर :—नाव क्या छुय् (क्या नाम है)

भवानी :—रोफ (रूपा)

भवानी ने अपनी बहती हुई चटाई रोक ली और इतने ही समय में शाहकलन्दर ने व्यंग्यात्मक उक्ति में फिर कहा :—"योद वै योर तरखं सोन सपंदक्।" (अगर इस तट पर आओगी तो स्वर्णमयी बनोगी)।

शाहकलन्दर के कथन का अभिप्राय यह था कि तुम अभी भी हिन्दू-धर्म की सीमा में रहकर चाँदी ही बनी रही हो अगर इस्लाम को ग्रहण करोगी तो चाँदी से सोना बन जाओगी। किन्तु धर्मप्राण अलक्ष्येश्वरी भी कब चूकने वाली थी। वे भी तपाक से बोलीं :—

"योद वै च़ूइ़ योरं तरखं मोख्त सपंदक्" (अगर तू इस पार आएगा तो मोती बनेगा)

भवानी के कथन का आशय वास्तव में यह था कि 'शाहकलन्दर! तुम तो अभी भी इस्लाम के कर्म-काण्ड के संकीर्ण धर्म-प्रचार के चौखटे में फँसे हो। इस चौखटे को छोड़कर यदि तुम मेरे अद्वैत-दर्शन में शरण लोगे तो मुक्ति प्राप्त करोगे। दूसरे अर्थ में इसकी स्पष्टि इस प्रकार से होती है :—

"क्यों सोने चाँदी की बात कह रहे हो यदि तुम इस किनारे पर आओगे तो पवित्र मोती बन जाओगे।"

कश्मीरी भाषा में संस्कृत शब्द—(क) मुक्त (ख) मुक्ति दोनों की ध्वनि एक ही है—/मोख्तं/ (मोती, मुक्ति)

कई वर्षों के उपरान्त भवानी ने गैरिक कपड़ों का प्रयोग सुव्य-

वस्थित रूप से करना आरम्भ कर दिया। पहले तो साधना के समय ही इनका प्रयोग होता था किन्तु अब तो दैनिक वेश ही यही हो गया। एक दिन माँ भवानी वोतंलार के पास ही नीचे की ओर आ रही थी कि शाहकलन्दर का सामना हो गया, गेरुए वस्त्रों को देखकर शाह-कलन्दर ने पूछा—"रूपे इह क्या रंग ?" (भवानी रूपा ! यह कौन सा रंग है) तपस्विनी माँ ने प्रशान्त भाव से गंभीर उत्तर देकर शाह-कलन्दर को चुप कर दिया।

"ज़ाग, सुरठं, तं मंजेठ"

अर्थात्—सुरक्त और मंजिष्ठा को मिलाकर, दोनों ही रंगों को जमाकर गेरुआ रंग उभर आता है। यहाँ श्लेषात्मक सूत्र-शैली का सफल प्रयोग भवानी ने किया है। शाहकलन्दर के "रंग" शब्द के कहने का अभिप्राय यह था कि कौन सी अवस्था में हो ? भवानी के उत्तर का अभिप्राय यह है—"जागृत होकर उस अपने से अभिन्न परंब्रह्म के स्वरूप को धारण कर। व्यर्थ के वाद विवाद के प्रश्नों को छोड़।" हतप्रभ शाहकलन्दर ने फिर कभी भी भवानी के पास आने का साहस नहीं किया।

भवानी के निर्वाण पर इस मुसलमान सन्त ने जिस अपार श्रद्धा से दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत की वह देखने योग्य है—

"आरिफेज़ात आँ अलख औवतार
कालिबे अनसरी खैश शिकस्त
कर्द दरवाज सोएँ अर्शं अज़ीम
बादिलेनेक बं रहमतश्पैइवस्त"

अर्थात्—"अलक्ष्य अवतार की उन्मादिनी सत्ता ने अपनी काया को छोड़कर, महाआकाश की ओर उड़ान भर कर, पवित्र हृदय से भगवान के साथ जाकर मिलाप किया।"

वासकुराः—मणिगांव की कुटीर में रहते हुए भवानी अलक्ष्येश्वरी को बहुत समय हो गया था। यहाँ भक्तों की भीड़ भी अब कुछ अधिक

होने लगी थी। अतः भवानी मणिगांव से प्रस्थान करके वासकुरा नामक गांव में चली गईं। वासकुरा का प्राचीन नाम वासक-कुण्ड था। यहाँ वासुकि नागराज ने अनन्त समय तक गहन तपस्या की थी। पौराणिक-गाथा के अनुसार जब वासुकि नागराज की तपस्या सफल हुई तो भगवान शंकर ने दर्शन देकर वरदान मांगने को कहा। वासुकि ने भगवान शंकर से यह वर मांगा था कि "मैं सदा आपके गले का हार (माला) बन कर रहूँ।" तब से वासुकि नागराज शंकर के गले का हार बनकर आनन्द भोग रहा है। भवानी को यह स्थान बहुत ही भाया और यहाँ आकर दिव्य-स्वरूपा भवानी स्वच्छन्द होकर निवास करने लगी। भवानी के आगमन के कुछ ही समय के उपरान्त यहाँ भी भक्तों का संगम होने लगा। श्रीनगर से प्रतिदिन हजारों की भीड़ वासकुरा गाँव आया जाया करती थी। मुगल-सूबेदार अलीमर्दान खाँ ने भी वासकुरा में ही भवानी के दर्शन का लाभ प्राप्त किया था। वासकुरा में मलिक नामक मुसलमान परिवार भवानी अलक्ष्येश्वरी की सेवा में विशेष तत्परता और चौकसी बरतता था। कुछ समय के बीत जाने के उपरान्त मलिक परिवार भवानी के दैनिक जीवन का अंग ही बन गया। दुर्भाग्य से मलिक परिवार में एक ही बालक था और वह भी दुर्भाग्य से जन्मान्ध था। यह बात मलिक परिवार के लिए विषाद का कारण थी, और वे अपने भाग्य को कोसते रहते थे। एक दिन संयोग से भवानी अलक्ष्येश्वरी भवानी-वृक्ष (कश्मीरी >बून्य; हिन्दी >चिनार) की छाया में बैठी हुई अपार आनन्द की अवस्था का विहार कर रही थीं कि अचानक उनकी नज़र सामने बैठे हुए इस जन्मान्ध बालक पर पड़ी। करुणाशील मां का ममत्व द्रवित हुआ। भवानी ने बालक के हाथ में एक लकड़ी का टुकड़ा (जो पास ही पड़ा हुआ था) देकर कहा कि इस टुकड़े से धरती को खोदो। बेचारा बालक भवानी के लाड़ और प्यार का साक्षात् स्वरूप था अतः आज्ञा पाकर वह धरती खोदता रहा। पास ही बैठी हुई भक्तों की भीड़ यह सब देख रही थी। धीरे-धीरे नीचे से पानी निकलना शुरू हुआ। भवानी ने दूसरी आज्ञा दी "गड्ढे के पानी से दोनों आँखों को धो डालो" ज्यों ही बच्चे ने आँखों

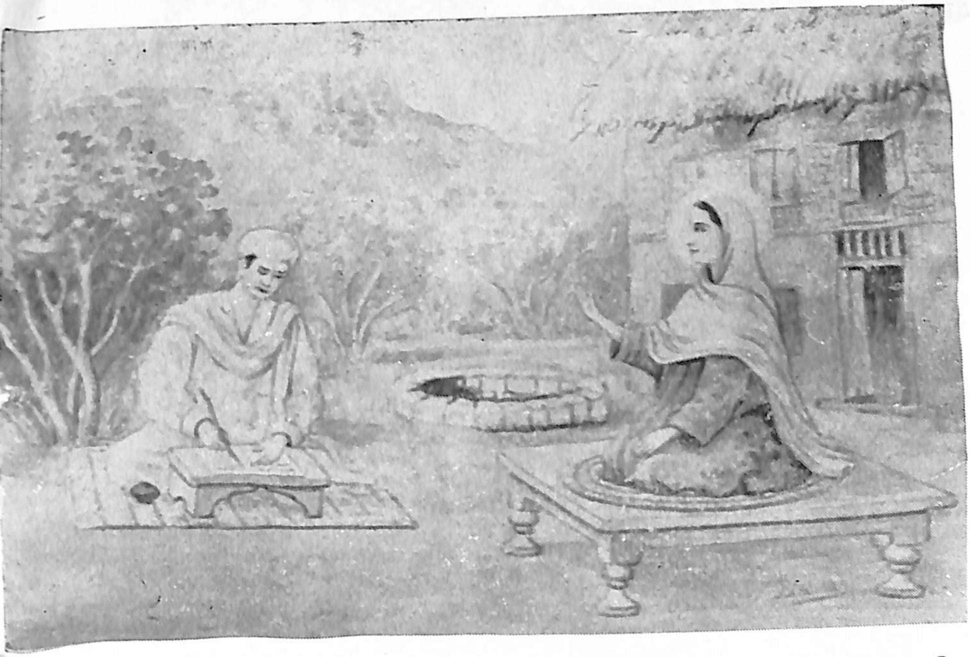
को धोया उसकी आँखों में प्रकाश आ गया और वह भवानी के तेजस्वी स्वरूप और जनता की अपार भीड़ को देखकर चकित हो गया।

कुछ समय के उपरान्त इसी छोटे से गड्ढे को और खोदकर एक बड़ा सा कुँआ बनाया गया जिससे वही जन्मान्ध बालक पानी खींचकर भवानी के लिए कलशी भर रखा करता था। आज भी जब भवानी के निर्वाण पर्व के उपलक्ष्य में कन्यार्कगत[1] (कश्मीरी "कांबूरिपछ") का गुरु-श्राद्ध पर्व वासकुरा गाँव में मनाया जाता है तो इसी मलिक परिवार के हाथ से पानी खींचकर पूजा-तर्पण सम्पन्न किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कुँए से पूजा के निमित्त पानी खींचने का अधिकार आज भी इसी मुसलमान परिवार को है। भवानी अलक्ष्येश्वरी के भाई श्री लालजू दर अपनी श्रद्धेया बहिन के पास उनकी तपस्या के आरम्भ से ही आया जाया करते थे। एक तो बहिन के स्नेह से और दूसरे उनके ऊर्जस्व-दर्शन के लिए। उन दिनों भवानी अखण्ड-साधना में मग्न रहने के कारण बहुत कम मिलतीं थीं और श्री लालजू दर बहिन के ममत्व के कारण और अधिक आते थे। मणिगांव में जिस दर्शन का विराट्-साक्षात्कार भवानी ने श्रीलालजू दर को दिया था उसके उपरान्त लालजू दर भवानी को गुरु-स्वरूपा मानकर उनके भक्त बन गये थे। वासकुरा गाँव आने के उपरान्त श्री लालजूदर ने अपने बेटे श्रीबालजू दर को भवानी की सेवा के लिए वहीं वासकुरा गाँव में रख दिया। कुछ समय बीत जाने पर एक दिन श्री लालजूदर ने भवानी से प्रार्थना की कि "बालजू अभी तक पढ़ा लिखा भी नहीं है अब आयु भी प्रौढ हुई, अतः इसका भविष्य कुछ संदिग्ध सा है।" अपार आनन्द और अनुग्रह की मुद्रा में बैठी हुई माँ भवानी ने एक देशी कागज़ का पन्ना और कलम देकर उसे एक आवेदन-पत्र (अर्ज़ी) देहली के सम्राट के नाम लिखने को कहा। श्री बालजूदर ने एक प्रौढ एवं बहु-पठित-व्यक्ति के समान दरख्वास्त (आवेदन-पत्र) लिख डाली। इस कृत्य को देखकर सारी भीड़ आश्चर्य

---

१. हिन्दी में जिसे 'कनागत' (श्राद्ध पक्ष) कहते हैं। —सम्पादक

वासकूरा का चमत्कार



देवी रूपभवानी ने अपने अपढ़ भतीजे बालजू दर से कहा 'लिखो', और वह एक बहुपठित व्यक्ति के समान अनायास लिखने लगा ।

वासकूरा का अस्थापन



जहाँ देवी रूपभवानी का पितृपक्ष का श्राद्ध मनाया जाता है ।

चकित हो उठी। कालान्तर में बालजूदर देहली सम्राट के यहाँ एक प्रतिष्ठित पद पर आधिकारी नियुक्त हुए।

वासकुरा गाँव में भवानी अलक्ष्येश्वरी ने प्रथम गुरु-उपदेश बालजूदर और श्री सदानन्दजू मत्तू को दिया। मत्तू-परिवार के लोग वासकुरा गाँव के ही रहने वाले थे। बालजूदर देहली जाकर मुगल-सम्राट के दरबार में अधिकारी नियुक्त हुए किन्तु सदानन्दजू मत्तू आजीवन भवानी की ही सेवा में लगे रहे। यही कारण है बालजूदर के वंशज और सदानन्दजू मत्तू के वंशज आपस में गुरु-भाई हैं। किन्तु बालजूदर सरकारी नौकरी के कारण भवानी की सेवा से वंचित रह गए और अपने गुरु-भाई श्री सदानन्दजू मत्तू की आर्थिक-सहायता करते रहे जिससे वे अपने परिवार का पालन-पोषण कर सकें। पालन-पोषण के लिए दिए जाने वाले इस धन को मत्ति-मुर अर्थात् "मत्ति-मूल्य" कहते हैं जो कि भाषा के घिसने के कारण अब "मुर" बन गया है। अब भी मत्तू-परिवार के वंशज भवानी के पर्व पर आए हुए आर्थिक अंश के अधिकारी हैं। यद्यपि वे अब इस धन-राशि को पुनः भवानी अलक्ष्येश्वरी ट्रस्ट को ही सौंप देते हैं।

श्रीनगर :

वासकुरा में साढ़े बारह वर्ष रहने के उपरान्त अलक्ष्येश्वरी के भक्त-जनों ने उनसे श्रीनगर लौट आने का निरन्तर आग्रह किया। अन्त में भवानी ने उनका आग्रह स्वीकार करके श्रीनगर लौट आना मान लिया और श्रीनगर में भवानी ने अपना "साधनाश्रम" सफाकदल में बनाया। यही वह स्थान है जो रूप-भवानी जन्म स्थान के नाम से जाना जाता है और जिसे अलक्ष्येश्वरी ट्रस्ट के लोगों ने बड़े परिश्रम तथा संघर्ष से पुनः प्राप्त किया है। यहाँ भवानी ने परमानन्द के पद पर पहुँचने के उपरान्त भी उन तथ्यों की ओर ध्यान देना शुरू किया जो सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी ही नहीं अपितु अनिवार्य हैं। उस समय इस्लामी प्रभाव के कारण कश्मीरी हिन्दुओं में दो-पत्नी या बहु-पत्नी कुप्रथा का प्रचलन था। भवानी ने इसका कड़ा विरोध किया और उनकी अनुकम्पा से यह प्रथा कश्मीरी हिन्दुओं में लगभग मिट ही गई

है। भवानी ने पशु-बलि का भी खुला विरोध किया और यह प्रथा भी अब समाप्त प्राय: है। उस समय भयभीत हिन्दूजन अपनी सम्पति को बेच रहे थे। इसका भी भवानी ने बड़े उत्साह के साथ विरोध किया और हिन्दुओं के गिरते मनोबल को पुनः प्रतिष्ठापित किया। इसके अतिरिक्त अलक्ष्येश्वरी ने उस समय की अन्य बुरी प्रथाओं एवं सामाजिक विसंगतियों को दूर किया और उस युग के अत्याचार और अन्याय का डट कर मुकाबला किया।

काल की माया स्वयं में असीम और अनन्त है और सबके पार्थिव शरीर को अवश्य ही एक न एक दिन विलय होना है। यह प्रकृति का गूढ़ रहस्य है। सभ्या अलक्ष्येश्वरी का पार्थिव शरीर अब काल की परिधि से महाकाल में, मिलने को व्याकुल होने लगा, आंशिक ज्योति अब संपूर्णज्योति में विलय के लिए व्यग्र होने लगी। अत: माघ महीने के कृष्ण पक्ष की सप्तमी के दिन सप्तर्षि संवत् ४७९६ (विक्रमादित्य संवत् १७७७, ईस्वी सन् १७२१) में दिव्य-ज्योति ने ऐहिक शरीर को छोड़कर महा-प्रयाण किया। भवानी के अन्तर्ध्यान होने के उपरान्त सन्त कबीर दास की पार्थिव-काया के समान ही हिन्दुओं और मुसलमानों में बड़ी खीचातानी आरम्भ हुई। भवानी का पवित्र-जीवन हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों के लिए, एक समान था। वहाँ द्वैत-भावना का प्रश्न नहीं था। हिन्दुओं के लिए यह प्रश्न अपनी सांस्कृतिक परम्परा का था जिसे विधर्मी छीनकर अपनी संस्कृति का अंग बनाना चाहते थे। अत: इस तथ्य की पृष्ठभूमि में मुसलमानों का लक्ष्य राज-नैतिक अधिक था और भावनात्मक कम। सर्वज्ञा-भवानी उस समय के दमन-चक्र और अन्याय से परिचित थीं हीं। आँगन में हिन्दू मुसल-मानों में जब यह खींचातानी चल रही थी तब भवानी को अपने उपा-सक और श्रद्धालु भक्तों के लिए महानिर्वाण से लौट आना पड़ा। भवानी की मृत-काया जीवित हो उठी और खिड़की खोलकर शव को 'दफ़नाने' का प्रयत्न करने वाले दल को उन्होंने खूब फटकारा। वे भवानी की आध्यात्मिक शक्ति से परिचित थे ही अत: भय के कारण वहाँ से वे हट गए; यह समझकर कि भवानी अलक्ष्येश्वरी अभी जीवित

है और शोर-शराबे की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके चले जाने पर भी हिन्दू-भक्तजन वहाँ से हटे नहीं, क्योंकि वे भवानी के इस दिव्य चमत्कार से परिचित थे। भवानी जब अन्दर चली आईं तो अचानक बर्फ का भयंकर तूफान आया। चारों तरफ अँधेरा छा गया। हाथ को हाथ नहीं सूझता था। कुछ भक्त भवानी के उस कमरे में गए जहाँ उनकी पवित्र काया रखी हुई थी। भक्तजनों ने भवानी की तपःपूत काया को स्नान कराया और अन्तिम-संस्कार करने के उपरान्त उनकी स्मृति शेष काया को अर्थी पर रखकर श्मशान की ओर प्रस्थान किया। भवानी की अपार लीला के फलस्वरूप गुरिपूर (ग्वालपुर) तक रास्ते में कोई भी नहीं मिला। वहाँ पर थोड़ा विश्राम लेने के लिए जब अर्थी को चौक पर रखा तो उन्हें वासकुरा का नम्बरदार मिला। जाने-पहचाने चेहरों को देखकर वह भी चौंक उठा कि यह किसकी अर्थी जा रही है। जब भक्तों ने भवानी के निर्वाण की घटना सुनाई तो वह बेचारा ठिठक गया क्योंकि उसने भवानी अलक्ष्येश्वरी को रास्ते में वासकुरा जाते हुए देखा था। इस पर सब को बेहद हैरानी हुई किन्तु जब कफन हटाया गया तो वहाँ भवानी-अलक्ष्येश्वरी की पार्थिव काया के बदले केवल थोड़े से "अलक" (सिर का जटाजूट) और फूल थे। भक्तों ने फूलों का दाह-संस्कार किया और उनके "जटाजूट" को पुण्य-स्मृति के रूप में सुरक्षित रखा। इस जटा-जूट की पूजा-अर्चना आज भी विधिवत् होती है।

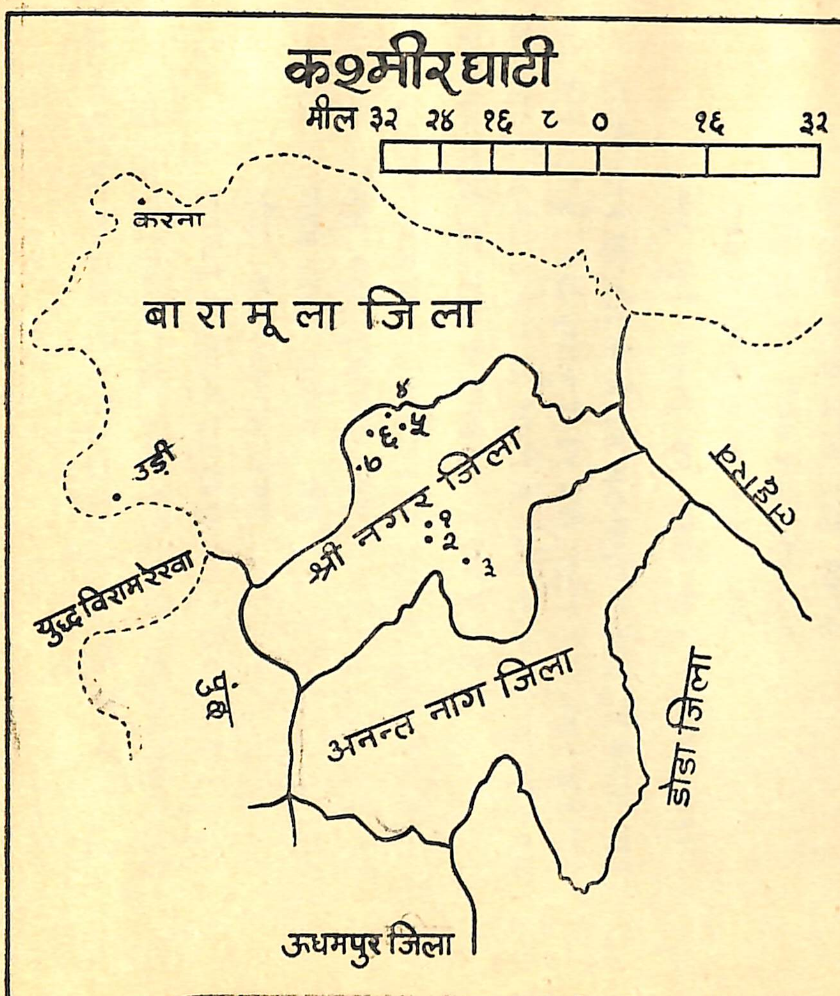
कश्मीरी साहित्य में 'वाक्य' परम्परा का विकास

कश्मीरी भाषा में 'वाक्यों' की परम्परा चिर प्राचीन है। 'वाक्य' का सामान्य अर्थ कश्मीर की सांस्कृतिक पृष्ट-भूमि में एक प्रकार की अभिव्यक्ति से है जो छन्दोबद्ध रचना का पर्याय है। ईसा की सातवीं-शताब्दी के पूर्व 'वाक्य' (अथवा कश्मीरी छन्दोबद्ध रचना) का साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है। छुम्म-संप्रदाय के कुछेक 'वाक्य' मुझे श्रीराम शैवाश्रम फतेकदल की पाण्डुलिपि-कक्ष में मिले हैं। अभिनव गुप्त पाद ने तंत्रालोक में छुम्म-सम्प्रदाय का विशदता से वर्णन किया है। वास्तव में छुम्म और महानय-प्रकाश की भाषा एक ही युग की कश्मीरी भाषा है अतः छुम्म को यदि हम सातवीं शती की भाषा कहें तो 'महानय-प्रकाश' की भाषा आठवीं-नवीं शती की भाषा मानी जायगी। यहाँ साक्ष्य के रूप में हम कश्मीरी छन्द-विधा की एक क्रमिक-विकास तालिका प्रस्तुत करते हैं।

(क) **छुम्मसंप्रदाय** :—(छुम्म पद्य १)

इह गत भुवे उदिच अकमकमे
निरवकाश पदिपिअ आवन्ति
सम रस विच्ची अगमगमे
अगाद कथ नु चि़नुपदि पर्यन्ति ॥ (ईस्वी ७वीं शती)

(जब ज्ञान, क्रम (Systematic way) और अक्रम (Unsystematic way) दोनों ढंगों से उदय होगा तो ये घटाकाश-मठाकाश (Limited universe) हट जाते है—तब ही यह अलौकिक गति उभर आती है। संकल्प और विकल्प के प्रशान्त होने के उपरान्त ही



अलक्ष्येश्वरी श्री रूपभवानी के श्रीनगर जिले के तपस्या-स्थान :—

(१) जन्म-स्थान, **दिद्दमर (नवाकदल) श्रीनगर।** यहाँ उनका स्वर्गवास भी हुआ था। माधवी ज्येष्ठ पूर्णिमा को जन्म-दिवस का उत्सव यहीं मनाया जाता है।

(२) **श्रीनगर** में अलख साहिबा ट्रस्ट का मुख्यालय, जहाँ वितस्ता के किनारे उनकी वर्षी मनायी जाती है।

(३) चश्मासाहिबी के पास **वस्तरवन,** जहाँ विवाहोपरान्त सन्यास लेकर उन्होंने तपस्या आरम्भ की थी।

(४) **मनिगाम** जहाँ भवानी ने चिनार का वृक्ष लगाया था और तपस्या की थी। चिनार आज भी है।

(५) मनिगाम से दो मील दूर **वौतशन,** जहाँ वे चश्माशाही से गई थीं।

(६) **लार,** (तकिया अलख साहिबा) जहाँ मनिगाम से आकर एक झरने के किनारे उन्होंने तपस्या की थी।

(७) **वासकूरा,** जहाँ लार से आकर उन्होंने तपस्या की थी। यहाँ उन्होंने एक चिनार लगाया था और एक अन्धे मुसलमान बालक से कुआँ खुदवाकर उसे दृष्टि दी थी। यहाँ अश्विन कृष्ण पक्ष में सप्तमी को भवानी के पति-पक्ष का अनुष्ठान किया जाता है।

रस की अनुभूति प्राप्त होती है। यह न समझना यह अनबूझ बात है जब तुम अपने स्वरूप का चिन्तन करोगे तो सब स्पष्ट हो जायगा।)

(ख) **'महानय-प्रकाश' :**—(महानय प्रकाश १३/१)

गुरुमुख च़ि यिद फलति वातो
कथ पूजन सङ्क्रम अविवादे
अक्क कालु अक्क पदि पातो
चोदस्यु पूज नु मर्याद ।। (ईस्वी ८वीं/९वीं शती)

(गुरु मुख से यदि तुम्हें यह फल प्राप्त हुआ है तो फिर, किसकी पूजा की जाए इस विषय में कोई विवाद नहीं है। अगर तुम एक ही काल और एक ही पद का अनुसरण करोगे तो चतुर्दशी (पाँच कर्मेन्द्रियाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार और जन्म, ये चौदह तत्त्व) का पूजन आवश्यक नहीं हैं।)

(ग) **सन्ता लल्लीश्वरी :**—(लल्लं वाक्य)

आमिपनं सद्रस् नावि छैस् लमान्
बोज़ि ना दैय् म्योन मेंति दीइ तार
आम्यैंन् टाकैंन् पोण्य छुम् स्रवान्
मन् छुमं ब्रमान् गरं गच्छं हां। (ईस्वी १३३५)

(कच्चे धागे की डोर से मैं इस भव-समुद्र में पड़ी हुई अपनी नाव को खींच रही हूँ। क्या कृपालु ईश्वर मेरी पुकार को सुनकर मुझे पार उतारेगा? कच्ची ठीकरी की थाली से पानी सरक रहा है और मन उछलकर अपने घर जाने की इच्छा प्रकट कर रहा है।)

(घ) **सन्त नुदंऋषि :**—[सन्त नूरद्दीन ऋषि के 'श्रूख' (श्लोक)]

तस् पद्मान् पोरचि लल्ले
यम्ये गले अमंरेंथ चैंव्
सोइ़ सती अवतारं लल्ले
ततीवर् मे दितम् दइ़या ।। (ईस्वी १३६०)

(वह पाम्पुर (पद्मपुर) की लल्लेश्वरी जिसने आत्म-स्वरूप रूपी अमृत का घूंट पी लिया है। वह लल्लेश्वरी वास्तव में अवतार है।

हे प्रभु ! वही वर (अर्थात् लल्लेश्वरी के समान ही वरदान) मुझे प्राप्त हो।)

(ङ) **भट्ट अवतार** :—(बाणासुर कथा)

च्छोनात् अर्ज नाकर समेत एनैय् मारणे
क्षणे पाश बुकरा पिया मा गच्छ् मारणे
चि़ अक्क अस्त्र नाकारि ते कौच कान दारणे
अमेन योद्धं कुकरि पिया मा गच्छ् मारणे ।। (ईस्वी १५वीं शती)

(बाणासुर की बेटी उषा अपने प्रेमी अनिरूद्ध को समझाती हुई कहती है—"इन (बाणासुर की सेना की) की ललकार सुनकर भी तुम आज इस युद्ध को टालो क्योंकि ये (बाणासुर की सेना) मिलकर तुम्हें मार डालेगें। मैं गले में फाँसी इसी क्षण लगा लूँगी। हे प्रिय ! तुम मत जाओ, वे तुम्हें मार डालेंगे। तुम केवल एक शस्त्र से क्या कर सकते हो, वे तो अनेक धनुष बाणों को लिए तुम्हारी ताक में बैठे हैं। कौन इनसे युद्ध में जूझ सकता है। प्रिय ! तुम मत जाओ, वे तुम्हें मार डालेंगे।)

(च) **भट्ट प्रशस्त गणक** :—("सं० मा० ज० सुख-दुःख चरित")

बोज सखा अपरस प्रुछह उन्दि
लब्बह लग्न समय परिमाणे
वनिज यखेत् लेखो कित ग्रन्दि
प्रकट्ट रय् सो गटिका ग्ञान ।। (ई० १६ वीं शती)

(हे मित्र ! सुनो घड़ियाल से जाकर जल्दी समय पूछ आओ, क्योंकि मुझे जन्म-लग्न बनाना है। जब वह समय बताए तो गिनती में उसे अवश्य लिखना। फिर तुम्हें घड़ी-पल का ज्ञान होगा।)

उक्त परम्परात्मक साक्ष्य से इस तथ्य का पता सहजरूप में मिलता है कि 'वाक्य', श्रूख (श्लोक), नरकट्टिका-छन्द और थट्टो आदि छन्दों में अभिव्यक्ति का माध्यम कश्मीरी-भाषा के साहित्य में चिर-प्राचीन काल से प्रचलित है।

अलक्ष्येश्वरी श्रीरूपभवानी के वाक्यों का तत्व-सार

(अ) **निर्वाण-दशकी :**—निर्वाण-दशकी में दस वाक्य हैं। प्रत्येक वाक्य की अन्तिम पंक्ति ध्रुवपद के समान चलती है। इन वाक्यों का सारतत्त्व यही है कि, मुक्तात्मा साधक को, निर्वाण प्राप्त करने के लिए प्रथमतः लक्ष्य के निर्धारण में सावधानी के लिए सव्यग्र रहना चाहिए। निर्वाण की उपलब्धि के लिए जटिल कर्मकाण्ड एवं कृत्यों का आडम्बर कभी भी सहायक नहीं हो सकता है और "अहं तं ममता गालिथ् थ्येथ प्रेलय ना आसे" (स्रष्टि और स्थिति विनष्ट करने के उपरान्त आवागमन संभव नहीं है) मोक्ष का सबसे प्रबल शत्रु अहंकार है और ममता ही आवागमन है। इन दोनों के होने से जीव की आध्यात्मिक प्रगति रुक जाती है और इनके ही फेर में पड़कर वह नश्वर वस्तुओं और आशाओं के भँवर में जूझता रहता है। ममत्व और अहंकार संकोचित-इन्द्रियों का क्षणिक सुख है। इनके चंगुल से छूटकर ही निर्वाण संभव हो सकता है। निर्वाण भ्रान्ति अथवा भ्रम नहीं है, न ही यह कल्पना की योजना है। इसका स्वरूप "मध्य आकाशी कदाचित् ब्रछ ना आसे" थिरकते अथवा घुमड़ते बादलों में बनते-बिगड़ते आकार के समान नहीं है अर्थात् निर्वाण शून्य में बनते-बिगड़ते आकार और बिम्बों (Images) के समान नहीं है और न वाणी के द्वारा इसका विवरण ही दिया जा सकता है; यह "फलारसं ग्ज्ञानी" अर्थात् ज्ञानी साधक के लिए 'रसात्मक अनुभूति का फल है।' ज्ञानीजन मात्र अपनी अनुभूति में ही इसका आस्वादन और चर्वण करते हैं। निर्वाण की उपलब्धि के लिए रूद्राक्षमाला, गोत्र-संभाषण और बाहिरी दिखावे काम नहीं आते हैं। मोक्ष—"शेयुम् थान वासी" (अर्थात् छटवे स्थान में रहने वाला) आज्ञाचक्र में निवास करता है अथवा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, और मन से उल्लंघित जो स्थिति है वही निर्वाण है। निर्वाण अमाकला और पूर्णिमाकला का समन्वय है। यही सोलहवीं कला है अथवा मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि के ऊपर का 'आज्ञाचक्र' है। इस प्रकार की अलौकिक

दृष्टि के सम्पर्क से ही मुक्तात्मा साधक निर्वाण के रहस्य को जान सकता है।

(ब) ज्ञान-खण्ड :—इस खण्ड में वाक्यों की संख्या ११४ है। प्रत्येक वाक्य अपने में स्वतंत्र है। कहीं कहीं पर परम्परा का पालन है किन्तु अधिकांश रूप में वाक्यों की अर्थ-योजना (Meaning Concordance) स्वतंत्र है। इस प्रकार के वाक्यों या पद्यों को कश्मीरी भाषा में "व्योत्थानॣक्य बारव्" अर्थात् 'व्योत्थानावस्था के प्रलाप' कहते हैं। आचार्य उत्पलदेव की शिवस्तोत्रावली में इसी प्रकार के 'व्युत्थानावस्था के प्रलाप' मिलते हैं। जब साधक समाधि की अवस्था से सामान्य जगत की अवस्था में लौट आता है तो द्वैत और भेद (Duality) की अवस्था उसे अखरती है, इसे 'व्युत्थानावस्था' कहते हैं। इस अवस्था में आक्रोश के कारण साधक इस प्रकार प्रलाप करता है :—

यवं तूर चलि ही तिमैय् वल् अंबर्
यवं बॊछि चलि ही आसख् त्रेफ्त

(जिससे तेरी सर्दी मिटे वही कपड़े तू ओढ़, जिससे तेरी भूख मिटे वही भोजन कर) अलक्ष्येश्वरी सामान्य जगत की अवस्था से संतुष्ट नहीं है क्योंकि समाधि के आनन्द से लौट आने के बाद सुख-दु:ख, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास (जगत के द्वन्द्व) पुन: व्याकुल करने लगते हैं अत: (वे कहतीं हैं कि) समाधि रूपी (उन्हीं) वस्त्रों को ओढ़ लो जिनसे तुम्हारी सारी ऐहिक सर्दी मिट जाएगी और उस भोजन का भोग करो जिससे नित्य तृप्त रहोगे, क्योंकि समाधि में—

"खेलमीलिथं तं आनन्द च्योन"

"मात्र आनन्द का ही रस-पान करना होता है।" वहाँ जगत की ये विभ्रान्तियाँ नहीं है।

अपने स्त्रीत्व का बोध होने पर भवानी के मन में उदासी सी छा जाती है—"दियि असित तारा त्रीङ् औतारे" (अर्थात् "मुझ स्त्री अवतार को भी उबार लेता") स्त्री-अवतार लेने के उपरान्त भी भवानी अलक्ष्येश्वरी को इस बात का ज्ञान स्पष्ट रूप से था कि माया

के आवरण के कारण इस मनुष्य शरीर में किस प्रकार का मोह बना रहता है क्योंकि देहाभिमान के कारण बार-बार द्वैत की भावना (Dualism) का सामना करना पड़ता है। किन्तु आत्मस्वरूप की साधना ज्यों-ज्यों आगे बड़ती जाएगी इस मोह का आवरण (पर्दा) हटता जाएगा और जिसकी खोज हो रही है वह वास्तव में अपने ही में, पहिले से ही, स्थित है इसका भान हो जायगा :—

"यृसुइ गारान् सु सूतीयं छुह
ब्रोंह ब्रोंह पकित् द्वैय् हा लोसे"

(अर्थात् "जिसे मैं खोज रही हूँ, वह मेरे साथ ही है, ज्यों-ज्यों मेरी साधना आगे बढ़ती जायगी द्वैत स्वयं ही मिटता जायगा") किन्तु साधना की अवस्था में शरणागत बनकर सन्तों का अनुग्रह एवं कृपा प्राप्त करना आवश्यक है :—

"शरणे आयेंस् ललीश्वरस्
श्रीसथ् गेंरस् माधवा शिवस्"

"यही कारण है मैं सन्ता लल्लेश्वरी और शिवस्वरूप अपने पिता की शरण में आई हूँ।"

अनुग्रह परमेश्वर की पाँचवी एवं स्वतंत्र शक्ति है। यह साधारण जीवों को सुलभ रूप में प्राप्त नहीं हो सकती हैं। लेकिन इसके बिना पूर्ण आध्यात्मिकता का आभास भी सम्भव नहीं है। अतः दैवी अनुग्रह अथवा शक्तिपात यदाकदा ही साधक को उपलब्ध होता है :—

"यिमं पद कांसि मेंलानी क्या"

(अर्थात् यह पदवी किसी साधारण व्यक्ति को क्या सहज रूप में मिल सकती हैं ?)

परन्तु मुझे सन्तों का अनुग्रह पूरी तरह से प्राप्त हुआ है इसीके कारण मेरी साधना अपनी चरम-सीमा पर पहुँच चुकी है :—

"तूषुम् तं कांसंनम् नेत्रन् गटं
जन् चाटस् ग्वरन् वोखंनुम् ज्ञान"

"संतुष्ठ होकर मेरी आखों पर छाया हुआ माया का अन्धकार हटा कर, मेरे लिए अलौकिक प्रकाश प्रस्तुत किया ; जैसे गुरु ने अपने शिष्य के लिए ज्ञान प्रस्तुत करके उसके सारे अन्धकार को मिटाया हो।"

सृष्टि के रहस्य को जानने के उपरान्त भी भवानी की चेतना (Consciousness) बार-बार जिज्ञासा से जागृत हो उठती है :—

प्रथ जिन्सस् अंशा थंवुन्
अथि कांसि न जीवस् थंवुन्
कतिज़न् ऑनुन् ? प्रछ्हांस फीरिथ्
ब्योन बैंयि मिलोवुन् त्वतस् सूत्यं ।।

"परंब्रह्म यह सब कहाँ से लाया ? अर्थात् अनेक प्रकार के बीज, अनन्त योनियाँ और भिन्न भिन्न प्रकार के स्वभाव ये सब वह कहाँ से लाया है। मैं मुड़कर (अथवा उस रहस्य के अन्दर घुसकर) उस परंब्रह्म से पूछना चाहती हूँ ? और यह पूछना चाहती हूँ कि सृष्टि के संहार के उपरान्त वह किस प्रकार से इस अनन्तता को एक ही तत्त्व में मिलाता है।"

वैदिक-युग के ऋषियों के समान ही अलक्ष्येश्वरी की जिज्ञासा जागरूक बनकर उभर उठी है—"यह हिरण्यगर्भ किसकी इच्छा से स्पन्द में आता है ? यह प्रकृति की विभिन्नता कहाँ से आती है और कहाँ चली जाती है ? भवानी का यह कथन—"प्रछ्हांस फीरिथ" (मुड़कर पूछना चाहती हूँ)—ऋग्वेद की इस जिज्ञासा से कितना साम्य रखता है :—

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेना-
था को वेद यत आबभूव ।। (ऋग्वेद १०/१२६।६)

(कौन मनुष्य निश्चित रूप से जानता है और कौन इस सृष्टि का विवरण बता सकता है ? कौन कह सकता है कि यह विविध प्रकार

की सृष्टि किसके आदेश से बनी है ? देवता भी नहीं जानते हैं क्योंकि वे भी सृष्टि बनने के उपरान्त उत्पन्न हुए हैं ; अतः इस सृष्टि के आरम्भिक रहस्य को वे (देवता) भी नहीं जानते हैं ।)

परन्तु आरम्भ में ही भवानी अलक्ष्येश्वरी को परंब्रह्म के त्रिश्वात्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। वे भेद को नितान्त भ्रामक मान-कर एक ही विराट-स्वरूप की छाया सब में ओतप्रोत अनुभव करतीं हैं :—

यिवान् पानं तं ज़ेवान् पानं
रिवान् पानं तं निवान् टूख
नाना प्रकार गिन्दान् पानं
रिन्दान् पानं तं हंवान पत्थ ॥

"इस विराट-विश्व में स्वयं परंब्रह्म ही विविध स्वरूप धारण करके, (स्वयं ही आकर) जन्म धारण करता है। स्वयं ही अपने अस्तित्व से खीझ कर रोता है और यहाँ से चला जाता है। यह जो इस ब्रह्माण्ड की अनन्त क्रीड़ा हो रही है वह सब स्वयं परंब्रह्म ही करता है स्वयं ही अपार हर्ष से प्रफुल्लित होकर इस सब को अपने में लीन करता है।"

किन्तु ज्ञान का आलोक स्पष्ट होने के उपरान्त साधक को कोई भ्रान्ति नहीं रहती है।"

"ध्यानस् मं व़ुह् पानस् मं व़ुह्
अथं ग्ज़ानस् व़ं मं नमस्कार"

"वास्तव में उसी ब्रह्म की सत्ता ध्यान (अर्थात् आत्मस्वरूप) और शरीर में विद्यमान है। अतः इस जड़-चैतन्य स्वरूप को नमस्कार है। इस तथ्य को जानना ही साधक का परम कर्त्तव्य है।" तथा

"छिवैय् च़ीतन् स्वरितोन् कुने"

"अरे ! अगर तुम चेतना (Consciousness) से युक्त प्राणी हो तो कहीं अपने ही आत्मस्वरूप में उसे खोज निकालो।"

भवानी अलक्ष्येश्वरी अपने वास्तविक शारिका-पद को जानतीं हैं और गहन तपस्या करने के उपरान्त वे अपने पद पर ही लौट आना चाहती हैं।

हीमालय अंशा यवैय ल्युखं प्रोवुम्
तवैय पान सुमंरुम् एका अन्त
ग्ञान् गर्जनाइ़सूत्यं प्रेक्रथ् सांदम्
चीतन प्रोवुस् पानं पानस् मंज़ ।।

"हिमालय की पुत्री पार्वती के अंशभूत रूप में जबसे मेरा जन्म इस पृथ्वी पर हुआ उसी क्षण से मैंने एकान्त अथवा अकेले में रहकर अपने वास्तविक शारिका-स्वरूप का स्मरण करना आरम्भ कर दिया। ज्ञान की अखण्ड गर्जना से मैंने अपनी शक्ति-स्वरूप प्रकृति को, जो जगत की माया के कारण छिप गई थी, पुनः साधना के बल से प्रकट किया और अन्त में शारिका के चैतन्य रूप को अपने आत्मस्वरूप के बीच स्वयं ही खोज निकाला।"

अब मैं सहज आनन्द की अक्षय-समाधि को धारण करके निर्द्वन्द्व और निश्चित हूँ :—

"सहज़ तं आनन्द रोज़ं हां पान दंरिथ
पानैय पान तस् मंज संदांरिथ क्यथ"

(अर्थात् :—सहज आनन्द की अवस्था को धारण किए हुए, मुझमें स्वयं इसका अभास प्रस्फुटित हुआ है)। वे आगे कहती हैं :—

"शशि दारि लवं दिमं महादीवस्
गंबूरं तोतैय् क्या बोलि वौन्य"

किन्तु मैं "पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान अपने चित्-रूपी अमृत से उस महादेव का अभिषेक करना चाहती हूँ क्योंकि साक्षात्कार के लाभ के उपरान्त मैं गम्भीर बन गई हूँ।" भवानी अपने अभेद रस के अमृत से अर्थात् अमा-कला के निमेष (संहार) और पूर्णिमा-कला के उन्मेष (सृष्टि) से उल्लंघित होकर अपने ही स्वयं-प्रकाश के

शक्तिपात (अनुग्रह) से अपने ही आत्म-स्वरूप रूपी महादेव का अभिषेक करना चाहती है।

जैसा कि आरम्भ में हमने देख लिया है ज्ञान-खण्ड में अलक्ष्येश्वरी की साधना एवं तपस्या के विभिन्न आयामों (Stages), अवस्थाओं और स्वरूपों की अलौकिक स्थिति का बोध है।

(स) स्वानुभवोल्लास दशक :—भवानी अलक्ष्येश्वरी अलक्ष्य (Invisible) परंब्रह्म के रहस्य की सारी परतों को तथा आवरणों को (पर्दों को) हटाकर उसी चैतन्य-स्वरूप के समान बनकर समस्त विराट-स्वरूप का विश्वरूप-दर्शन द्रष्टाभाव (Seer, Knower) के समान कर रहीं हैं। ब्रह्माण्ड की समस्त चेतना (Consciousness) दिशा-काल (Time and space) से रहित होकर सर्वेश्वरी भवानी को अपने ही खण्ड-हीन स्वरूप में दिखाई दे रही है। इस दशा की तुलना श्रीमद्भगवत् गीता के ग्यारहवे अध्याय के विश्वरूप-दर्शन के 'विराट स्वरूप' से की जा सकती है। किन्तु वहाँ अर्जुन को इस विराट का दर्शन करने के लिए भगवान कृष्ण ने दयालु बन कर दिव्य आँखें दीं थीं जब कि भवानी ने वे दिव्य आँखें स्वयं ही अपनी साधना से प्राप्त कीं थीं।

स्व=अपने, अनुभव=आत्मस्वरूप के अभ्यास, के द्वारा प्राप्त किया हुआ स्वरूप, उल्लास=उसी का अपार हर्ष। भवानी को जड़-चेतन आदि सब ही में उसी ब्रह्म-ज्योति के स्वरूप का अनुभव होता है। इस अवस्था में भवानी को अपूर्ण का पूर्ण में, मृत्यु का अमरता में, जड़ का चैतन्य में, संकोच का विकास में और स्वात्म का परमात्मा में अनुभव होता है। यह अवस्था पूर्ण चैतन्य युक्त है और पृथ्वी-तत्त्व से लेकर शिव-तत्त्व तक एक ही साम्यरस का आभास होता है इसी को शैवदर्शन में—"चैतन्यम्-आत्मा" कहा है।

(द) आनन्द द्वादशी :—आनन्द द्वादशी के पद्यों में भवानी अलक्ष्येश्वरी प्रशान्त तथा निर्विकार आनन्द की अवस्था में मग्न होकर इस तथ्य का संकेत देती है कि भक्त के हेतु यद्यपि मुझे महाशक्ति शारिका के स्वरूप को छोड़कर पार्थिव शरीर में आना पड़ा किन्तु :—

"यिह् मैं त्रोवुम् तिह् आंनुम् पानै"

"जिस महाशक्ति शारिका-स्वरूप को मैंने छोड़ दिया था और यह पार्थिव-शरीर धारण किया था, उसी छोड़े हुए स्वरूप को मैंने स्वयं जान लिया।" अब शरीरधारी होने के उपरान्त भी मैंने अपने में शारिका भवगती के स्वरूप को जान लिया :—

"बु छस् स्वोय् कंह् रोवुम् नहि"

"अब मैं वही अखण्ड शारिका का स्वरूप हूँ। पार्थिव-काया धारण करने के उपरान्त भी मेरा अपना शारिका स्वरूप खो नहीं गया है।"

अलक्ष्येश्वरी के कश्मीरी-वाक्यों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन

भगवती रूपभवानी के वाक्यों का भाषात्मक अध्ययन स्वयं में एक स्वतंत्र अध्ययन है क्योंकि कश्मीरी भाषा का भाषिक स्रोत चिरंतन ऋग्वैदिक भाषा-भाषीजनों की बोलचाल की भाषा है, जिसका विकसित स्वरूप आधुनिक कश्मीरी भाषा है। परन्तु भवानी के वाक्यों की कश्मीरी भाषा का भाषात्मक-अध्ययन प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो हमारे लिए केवल वाक्यों की सुगम्य व्याख्या के द्वारा सामान्य पाठक के लिए अर्थ-बोध देना पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त विभिन्न पाण्डुप्रतियों के माध्यम से संगत-पाठ का मुद्रण प्रस्तुत करना हमारा उद्देश्य है। किन्तु भवानी के कश्मीरी वाक्यों का (संस्कृत के संदर्भ में) आदिम स्वरूप जान लेना भाषात्मक विकास में अनिवार्य सा बन जाता है। इस कारण हमने कुछ-एक स्वरूप यहाँ प्रस्तुत किए है ; विस्तार के भय से हम अधिक स्वरूप नहीं दे सकते हैं। अब हम नीचे संस्कृत भाषा से कश्मीरी भाषा में विकसित होने वाले रूपों को उदाहरण रूप में दे रहें हैं। ये सब भवानी की कश्मीरी भाषा में पाये जाते हैं :—

स्वर-परिवर्तन :—

अ > आ = कश्म० /कारुन/ संस्कृ० /करुणा/
अ > ए = कश्म० /शेयुम्/ संस्कृ० /षष्ठ(म)/
,, ,, = कश्म० /द्रेष्ठी/ संस्कृ० /दृष्ठि/

अ >ई=कश्म० /मूलदारी/ संस्कृ० /मूलाधार/
अ >उ=कश्म० /युथ/ संस्कृ० /यथा/
आ >ओ=कश्म० ओवंरुम्/ संस्कृ० /आवृत्तम्/
इ >ए=कश्म० /नेंरवान/ संस्कृ० /निर्वाण/
इ >ए=कश्म० /वेंलय/ संस्कृ० /विलय/
इ >ए=कश्म० /नेंथं/ संस्कृ० /नित्य/
इ >ए=कश्म० /अतेन्तं/ संस्कृ० /अतिन्त/
इ >ई=कश्म० /परमंगती/ संस्कृ० /परमगति/
इ >ई=कश्म० /द्रेष्ठी/ संस्कृ० /दृष्ठि/
उ >ओ=कश्म० /मोखी/ संस्कृ० /मुख/
उ >ओ=कश्म० /सोष्फंती/ संस्कृ० /सुषुप्ति/
उ >ओ=कश्म० /योखतं/ संस्कृ० /युक्त/
उ >ओ=कश्म० /सेंाखी/ संस्कृ० /सुख/
उ >व=कश्म० /वंछ़ारन्/ संस्कृ० /उच्चारण/
उ >व=कश्म० /वंमा/ संस्कृ० /उमा/
उ >व=कश्म० /वेंाथं/ संस्कृ० /उत्तिष्ठ/
ऊ >ए=कश्म० /बेयि/ संस्कृ० /भूयः/
ए >ई=कश्म० /ईकान्त/ संस्कृ० /एकान्त/
ए >ई=कश्म० /आदिदीव/ संस्कृ० /आदिदेव/
ए >ई=कश्म० /तीज़/ संस्कृ० /तेज/
ए >ई=कश्म० /अनीख/ संस्कृ० /अनेक/
ए >ई=कश्म० /वीदंवाख्य/ संस्कृ० /वेदवाक्य/
ओ >ऊ=कश्म० /बूग/ संस्कृ० /भोग/
ओ >ऊ=कश्म० /यूग/ संस्कृ० /योग/
ओ >ऊ=कश्म० /गूपी/ संस्कृ० /गोपी/
ओ >ऊ=कश्म० /गूपाल/ संस्कृ० /गोपाल/
ओ >ऊ=कश्म० /रूग/ संस्कृ० /रोग/

अग्रलोप :—

कश्म० /कुनुयं/ संस्कृ० /एक+अनन्य/
कश्म० /गाश/ संस्कृ० /प्रकाश/

मध्यलोप :—

कश्म० /वैचा़रेयम्/ संस्कृ० /विचारितम्/
कश्म० /परमाकारी/ संस्कृ० /परमोपकारी/
कश्म० /सूत्यं/ संस्कृ० /सहित/
कश्म० /वुदुमं/ संस्कृ० /उद्धृत्वा मया/
कश्म० /ऑनुमं/ संस्कृ० /आनीत्वा मया/
कश्म० /पत/ संस्कृ० /पश्चात्/

अन्तलोप :—

कश्म० /वुच्चा/ संस्कृ० /उच्चारण/
कश्म० /अवैय/ संस्कृ० /अतएव/
कश्म० /संमिवे/ संस्कृ० /समवेता/

संख्यापरक :—

कश्म० /अकुय्/ संस्कृ० /एक एव/
/पांछ्/ संस्कृ० /पञ्च/
/शोयुम्/ संस्कृ० /षष्ठ(म)/

सर्वनाम-अव्ययों की स्वरभक्ति :—

कश्म० /ततीयं/ संस्कृ० /तत्र+एव/
कश्म० /सूयं/ संस्कृ० /सः+एव/
कश्म० /कैंह/ संस्कृ० /किं+हि/
कश्म० /यवैय/ संस्कृ० /यतः+एव/

सर्वनामिक स्वरभक्ति :—

कश्म० /तैयं/ संस्कृ० /ते+ये/
कश्म० /तवैय्/ संस्कृ० /तु+एव/
कश्म० /युसं/ संस्कृ० /यः+सः/

व्यंजन-परिवर्तन :—

क > ख = कश्म० /च़ंखूरं/ संस्कृ० /चक्र/
कश्म० /अनीखं/ संस्कृ० /अनेक/

क्ष > छ = कश्म० /ब्रछ/ संस्कृ० /वृक्ष/
कश्म० /लछ/ संस्कृ० /लक्ष/

क्ष > ख = कश्म० /अखँय्/ संस्कृ० /अक्षय्/

क्य > ख्य = कश्म० /वाख्य/ संस्कृ० /वाक्य/

त > थ = कश्म० /तथ/ संस्कृ० /तत्/
कश्म० /थिर्थ/ संस्कृ० /स्थिति/

त्त > च्च = कश्म० /मेच्च/ संस्कृ० /मृत्तिका/

श, ष > ह = कश्म० /इह/ संस्कृ० /एष/
कश्म० /हत्रि/ संस्कृ० /शनै/

क्रिया :—

वर्त्तमानकाल :

कश्म० /निरान/ संस्कृ० /नयति/ ; कश्म० /बासान्/ संस्कृ० /भासति कश्म० /खोँडुम्/ संस्कृ० /कंडयति/ ; कश्म० /गछान्/ संस्कृ० /गच्छति/

भूतकाल—

कश्म० /द्राव/ संस्कृ० /अद्रासीत्/

भविष्यत्काल—

कश्म० /मूचिहे/ संस्कृ० /मोक्ष्यति/
कश्म० /असिहे/ संस्कृ० /आशासे/
कश्म० /दिइहे/ संस्कृ० /दास्यति/
कश्म० /करिहे/ संस्कृ० /करिष्यति/
कश्म० /कांखेह/ संस्कृ० /कांक्ष्यति/
कश्म० /फलिहे/ संस्कृ० /फुल्लिष्यति/

कृदन्त—

कश्म० /गालिथ/ संस्कृ० /गलित्वा/
कश्म० /फीरिथ/ संस्कृ० /अफेलत्वा/
कश्म० /ग्वारिथ/ संस्कृ० /गवेषित्वा/

—त्रिलोकीनाथ गंजू

सम्पादक का वक्तव्य

भारतीय संस्कृति का आदि केन्द्र कश्मीर है। आज प्राचीन वैदिक संस्कृति की परम्पराओं के अवशेषों का दर्शन या तो हम कश्मीर की संस्कृति में कर पाते हैं, या कुछेक दक्षिण भारतीय क्षेत्रों में। भयंकर उथल-पुथल, अग्निकाण्ड, अत्याचारों, बलात् धर्म-परिवर्तन शत-सहस्र पुस्तकालयों के ध्वंस तथा हिन्दुओं के अपने कठपुल्लापन के कारण बहुमूल्य प्राचीन साहित्य कश्मीर से लुप्त सा हो गया है। जो भी प्राप्य है वह अधिकतर कश्मीर के बाहर ही सुरक्षित रहा है। फिर भी सन्तों की परम्परा और उनकी मौखिक रूप से प्रचलित अमृत वाणी ने कश्मीर में प्राचीन भारतीय संस्कृति की रक्षा की है। इसी परम्परा में देवी रूपभवानी का नाम आता है। कुछ वर्ष पूर्व मुझे उनके जन्मदिन के अवसर पर होने वाले समारोह का सभापतित्व करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था ; और वहीं देवी रूपभवानी के भक्तों से बातचीत के मध्य यह निश्चय किया गया था कि देवी के वाक्यों तथा उनके उपलब्ध जीवन-वृत्त को पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाय। इससे पूर्व अपने विभाग में देवी रूपभवानी पर एक विशेष-प्रबन्ध भी मैंने लिखवाया था—परन्तु उससे मैं सन्तुष्ट नहीं था। हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में मैंने कश्मीर के सभी साहित्यकारों एवं प्रमुख ग्रन्थों पर शोध करवाया है, और उसकी श्रृंखला के सुमेरु के रूप में "कश्मीरी भाषा का उद्भव और विकास" विषय पर पीएच० डी० का कार्य अपने निर्देशन में करवाने की कामना मेरे मन में थी। इसके द्वारा कश्मीरी भाषा के विषय में प्रचलित ग्रियर्सन द्वारा प्रतिपादित, भ्रान्त धारणाओं का ध्वंस मैं करवाना चाहता था। कश्मीर में इस कार्य के लिए श्रीत्रिलोकीनाथ गंजू से अधिक उपयुक्त विद्वान मुझे नहीं मिला, अतएव

यह कार्य उन्हीं से करवाया। "कश्मीरी भाषा का उद्भव और विकास" पर पीएच० डी० प्राप्त करते ही डा० गंजू को मैंने देवी रूपभवानी के वाक्यों की व्याख्या के कार्य में लगा दिया।

श्री अलक्ष्येश्वरी ट्रस्ट के श्रद्धालु महानुभावों का यह अनुरोध जो वर्षों से हम पूरा नहीं कर पा रहे थे, अब पूरा हो गया है, यह हमारे लिए हर्ष का विषय है।

डा० त्रिलोकीनाथ गंजू ने इस कार्य के सम्पन्न करने में जो परिश्रम किया है, और जो परिश्रम उन्होंने मुझसे करवाया है उसे या तो वे जानते हैं, या मैं जानता हूँ, या देवी रूपभवानी उसे जानती हैं।

हमने यह प्रयत्न किया है, कि देवी रूपभवानी के विषय में जो भी ज्ञातव्य है वह सब इस ग्रन्थ में आ जाय, और इसको पढ़ने के उपरान्त किसी भी श्रद्धालु भक्त के लिए देवी रूपभवानी के विषय में और कुछ पढ़ने की आवश्यकता न रहे। कश्मीरी हिन्दुओं की वर्तमान पीढ़ी तो हिन्दी से परिचित है, परन्तु पुरानी पीढ़ी के लोग (जो कि अधिक आस्थावान हैं) उर्दू तथा अंग्रेजी से अधिक परिचित हैं, इस लिए बीच-बीच में कठिन शास्त्रीय शब्दों का उर्दू या अँग्रेजी अनुवाद देने का प्रयत्न किया गया है। यह भी प्रयत्न किया है कि देवी रूपभवानी से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों (तथा स्थलों) का परिचय भी इस ग्रन्थ में दिया जा सके।[1] केवल कश्मीर और कश्मीरी भाषा-भाषियों के लिए ही नहीं, हम इस ग्रन्थ को शेष देश की श्रद्धालु हिन्दू जनता के लिए भी उपयोगी बनाना चाहते हैं। इस पुनीत कार्य में डा० त्रिलोकीनाथ गंजू ने जो परिश्रम किया है, वह उनका कर्त्तव्य था —अपने प्रदेश, अपनी जाति तथा अपनी भाषा के प्रति। अतएव मैं उन्हें

१. देवी रूपभवानी की जीवनी का परम्परा से प्राप्त जो रूप है उसी को हमने इस ग्रन्थ में स्वीकार किया है, क्योंकि इस पुस्तक का उद्देश्य, देवी के भक्तों को नित्यप्रति पाठ करने के लिए सामग्री प्रस्तुत करना है। इसमें वैज्ञानिक, मीन-मेख निकालना अश्रद्धा का कार्य होगा। हमने उस सामग्री को इतिहास के संदर्भ में उभार कर लाने का प्रयत्न किया है, और इसमें हमारी समझ से कोई त्रुटि नहीं है।

धन्यवाद का पात्र नहीं मानता। हाँ, मेरा आशीर्वाद तथा शुभकामनाएँ सदा उनके साथ हैं।

प्रेम प्रिंटिंग प्रेस के स्वामी श्री पीतमसिंह यादव के प्रति मैं, अपना और कश्मीरी हिन्दू भक्तों का आभार प्रकट करता हूँ। सारे भारत में उनका प्रेस ही एक ऐसा प्रेस है जिसमें कश्मीरी भाषा का देवनागरी लिपि में मुद्रण होता है। उन्होंने हमारे लिए विशेष रूप से ध्वनि चिह्नों को ढलवाया है, जिनके प्रयोग से कश्मीरी भाषा को देवनागरी में ठीक से लिखा, पढ़ा जा सकता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा हिन्दू-धर्म पर अनेकानेक आक्रमण हुए हैं और हो रहे हैं, परन्तु हम आज भी जीवित हैं और आगे भी रहेंगे। ज़माने की रफ्तार हमें मोड़ नहीं सकती, हम उसे मोड़ देने में समर्थ हैं, यह मेरा विश्वास है। इसलिए निम्नलिखित पंक्तियों के साथ मैं अपना निवेदन समाप्त करता हूँ।

"हमको मिटा सके ये जमाने में दम नहीं
हमसे जमाना है, जमाने से हम नहीं।"

श्रीनगर, (कश्मीर) **भारत**।

रमेशकुमार शर्मा
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय

ज्येष्ठे मासे सिते पक्षे पूर्णिमायां शुभे तिथौ। जन्म प्राप्तवती रूपा लोकाब्धिरसचन्द्रके ॥



माघे मासेऽसिते पक्षे सप्तम्यां च दिवं गता।
सप्तसप्ताधिके वर्षे सप्तदशे च वैक्रमे ॥

जे० एन० धर, डैंटिस्ट,
सैक्रेटरी, श्री अलख साहिबा ट्रस्ट।
नवाकदल श्रीनगर—२

श्रीगुरवे नमः

निर्वाण दशकी

सहज़ं[1] सर्वत्रं व्यापी स्वोंहैंथ्[2] विचारेयम्
बहुबलं[3] स्वभाव ईकान्त[4] स्वयंबू परमाकारी
अन्तर् मोंखी द्रैष्टो नैरंवान रहस्य[5] ततो परमंगती[6] ।।१।।

शब्दानुवाद

सहज़ं=उस परमेश्वर की सत्ता स्वाभाविक है ; **सर्वत्रं**=हर स्थान पर ; **व्यापी**=छाई है ; **विचारेयम्**=विचार करने के योग्य ; **स्वोंहैंथ्**=मिल है ; **स्वभाव**=उस परमेश्वर का स्वभाव ; **बहुबल**=अपार शक्ति से पूर्ण है ; **ईकान्त**=वह परमेश्वर अकेला और अद्वितीय है (और) ; **स्वयंबू**=स्वयं सिद्ध है ; **परमाकारी**=सारे ब्रह्माण्ड में उसकी सत्ता विद्यमान है या उसका आकार ही ब्रह्माण्ड के रूप में अवस्थित है ; **अन्तर मोंखो**=इस प्रकार के परमेश्वर की सत्ता को जानने के उपरान्त जो भी साधक समाधि

निम्नलिखित फुटनोट विभिन्न पाण्डुलिपियों में दिए पाठ-भेद को सूचित करते हैं :—

१. सहस्र ।
२. सुहृत् ।
३. बहुबलू, बहुबलूत, बहुबाहूक ।
४. एकोतं, एकतं ।
५. निर्वाण रहस ।
६. परमागती, परमागतिः ।

की शक्ति से ; **द्रेंष्टी** (इस प्रकार की) दृष्टि प्राप्त करता है ; **परमगती**= बड़ी ऊँची गति के ; **नेंरंवान-रहस्य**=मुक्ति के तात्पर्य या तथ्य (सही बात) को ; **तती**=वहीं, उसी अवस्था में प्राप्त करता है ॥१॥

व्याख्या

परमेश्वर की प्रतिभा स्वाभाविक एवं प्रत्येक अणु-अणु में विद्यमान है। उसकी सत्ता समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। वही परमेश्वर प्राणिमात्र का सही और वास्तविक बन्धु तथा मित्र है। इस परमेश्वर को चराचर सृष्टि के निर्माण करने में कहीं शक्ति उधार नहीं लेनी पड़ती है, अपितु वह सब प्रकार से समर्थ है। यह परमेश्वर अकेला है किन्तु अद्वितीय है। यही कारण है कि वह "स्वयंभूः" कहलाता है। जब इस अकेले परमेश्वर के मन में अनेक स्वरूपों में विभाजित होने की इच्छा होती है ("एकोऽहं-बहुस्याम") तो वह अनन्त सृष्टियों की रचना करता है। इस प्रकार के आन्तरिक चिन्तन तथा मनन से साधक की अन्तर की दृष्टि खुल जाती है और अनायास ही रहस्य की कुञ्जी हाथ में आ जाती है, जिसके फलस्वरूप साधक जगत के बन्धनों से छूट कर मुक्त होता है ॥१॥

शुद्धंयोंक्त[१] मूलाधांरी कुण्डली[२] मण्डली गौरी
सेंदं अरथं सूखमं[३] सोंष्पती चखूर विरक्त शान्तादांरी
ईश्वरी तोरियातीत परंमानन्दी नेंतिस्तसथी[४]
अन्तर्मोंखी द्रेंष्टी नेंरंवान रहस्य तती परमंगती ॥२॥

---

१. शुद्धोक्त, शुद्युक्त।
२. कुण्डलिनी मण्डले—क, ख, ग, घ पाठ।
३. सूक्ष्मी-सुषप्ते, ख पाठ।
४. यह पाठ मार्तण्ड के शेरवालों की एवं पिंगलेन्‌ निवासी स्व० वासुदेव पिंगलेंन की शारदा पाण्डुलिपि में उपलब्ध होता है।

शब्दानुवाद

शुद्धंयोक्त=शुद्ध संकल्प के साथ ; **गौरी मण्डली**=सफेद रंग तथा गोलाकार ; **कुण्डली**=कुण्डलिनी चक्र को ; **मूलाधारी**=मूलाधार से जाग्रत कराके (और) ; **संदं अरथं**=सही पारमार्थिक कामना से ; **सूख्मं सोष्पती**= जाग्रति, स्वप्न, और सुषुप्ति के सूक्ष्म अभ्यास से ; **चखूरं विरख्त**=मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञाचक्र अथवा नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु और भ्रूमध्य, इन छः चक्रों से विरक्त होकर; **शान्ताधारी** =शान्त आधार का स्थान प्राप्त होता है। **तोरियातीत ईश्वरी**=जागृत, स्वप्न और सुषप्ति इन तीनों के ऊपर ईश्वर-तत्त्व की ; **नैतिसत्तस्थी**=जो ईश्वर अवस्था परमार्थ अथवा आध्यात्म के वास्तविक स्वरूप में संलग्न — है ; **परमानन्दी**=यही अपार आनन्द को देने वाला है ; **अन्तरमोखी**=इस प्रकार के ईश्वर की सत्ता को जानने के उपरान्त जो भी साधक चिन्तन शक्ति से ; **द्रेष्ठी** (इस प्रकार की) दृष्टि (नज़र) प्राप्त करता है ; **परमंगती** =ऊँची अवस्था के मोक्ष की ; **रहस्य**=गहराई को ; **तती**=वहीं उसी अवस्था में प्राप्त करता है ॥२॥

व्याख्या

प्रथम श्लोक में सिद्धा-भवानी ने मनन चिन्तन के द्वारा मुक्ति का मार्ग दिखाया है। वस्तुतः जो मुक्ति चिन्तन से प्राप्त होती है वही मुक्ति योग-मार्ग से भी प्राप्त हो सकती है। इसी आशय को स्पष्ट करती हुई श्री भवानी कहती हैं कि योग-मार्ग में मनुष्य निरन्तर अभ्यास के द्वारा अपनी चेतना को छः स्थानों, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनहत विशुद्धि और अज्ञाचक्र (इनको क्रमशः नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य और सहस्रार कहते हैं) में पहुँचाकर, उस अलौकिक प्रकाश का साक्षात्कार करता है। कुण्डलिनी शक्ति का निवास मूलाधार (रीढ़ की हड्डी के ठीक नीचे) में होता है, इसका तेज अपार है, कुण्डलिनी का स्वरूप गौर (सफेद) है और आकार मण्डलाकार (गोल) है। जब योगी प्राणायाम के माध्यम से मन को स्थिर करके अचल और अटल होकर

बैठता है तो धीरे-धीरे यह महाशक्ति जागृत होती है। कुण्डलिनी को जागृत करने के उपरान्त दो अवस्थाएँ बनती हैं **प्रथम** :—जगत के व्यर्थ प्रलोभनों में पड़कर (अर्थात् कामिनी-कंचन—"Lust and Gold" के फेर में पड़कर) इसका स्वाभाविक प्रवाह केवल मनुष्य के जीव-भाव में ही सीमित रहता है अत: सीमित (Limit) अवस्था में ही घूम सकता है, इसके आगे जाना असम्भव हो जाता है। **द्वितीय** :—मुक्ति को चाहने वाला योगी इस शक्ति के सहारे एवं अभ्यास के द्वारा कालातीत होकर "अकुल" बनता है।

इस कुण्डलिनी शक्ति का बायाँ कुण्डल[1] (बाली) इला (इड़ा) है और दाहिना कुण्डल पिंगला है। इन दो कुण्डलों के बीच सुषुम्ना[2]-नाड़ी का प्रवाह है। सुषुम्ना नाड़ी के अतिरिक्त सूक्ष्मतम (बारीक या महीन) चित्रिणी नाड़ी से होकर ही कुण्डलिनी-शक्ति का मार्ग प्रवाह-शील[3] बनता है। शैव-दर्शन के अनुसार कुण्डलिनी को "शिव स्वरूप निवासिनी" कहा गया है और इसी से समस्त विश्व-चेतना का धन्धा चलता है।

भवानी के कथन का आशय है कि जब समस्त पदार्थ-समूह (Objective world) सूक्ष्म-सुषुप्ति में [सूक्ष्म-सुषुप्ति का रूप इस प्रकार से बनता है :—पहिली साधारण तीन अवस्थाएँ :—जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति। इसके उपरान्त प्रत्येक अवस्था की तीन-तीन सूक्ष्म अवस्थाएँ बनती हैं :—I. जागृत-जागृत, जागृत-स्वप्न, जागृत-सुषुप्ति। II. स्वप्न-स्वप्न, स्वप्न-जागृत, स्वप्न-सुषुप्ति। III. सुषुप्ति-सुषुप्ति, सुषुप्ति-जागृत, सुषुप्ति-स्वप्न] विलय हो जाता है तो साधक में शुद्धविद्या (Imperical knowledge) का अंकुर उत्पन्न होता है। यह अवस्था प्रकृति-

---

१. षट् चक्र निरूपणम् ; योग कुण्डल्युपनिषद्।
२. ललिता सहस्रनाम।
३. वामकेश्वर तंत्र।

तत्त्व एवं माया से ऊपर होती है अतः साधक इस तत्त्व (सूक्ष्म-सुषुप्ति) को प्राप्त करने के उपरान्त शान्ताधार अथवा उदात्तता से पूर्ण बनता है। इस पद के आगे ईश्वर-तत्त्व आता है। इस तत्त्व की अवस्था में योगी अथवा साधक को "आत्मा और जगत" तराजू के दो पलड़ों के समान एक ही स्तर (Balance) में दिखाई देते हैं। अतः साधक अहन्ता (आत्मा या Subject) और इदन्ता (जगत या Object) के स्वरूप के दर्शन एक समान करता है। इससे भी आगे तुरीयातीत होकर साधक परमानन्द पद के आनन्द को प्राप्त करता है। इस प्रकार की अन्तःदृष्टि ही निर्वाण का रहस्य है और इसका साक्षात्कार होने पर मुक्तात्मा परम गति को प्राप्त करता है ॥२॥

तथ्[1] रूपमयी तथ्[2] परमंगती सर्वथानी प्रवाही[3]
गति गट्[4] पूरनी छद्दा[5] देहं त्वेपितम्[6]
समंरथं[7] स्वामी परंमारथं विद्‌नम्
अन्तर मौंखो द्रेंष्टी नेंरवान रहस्य तती परमंगती ॥३॥

शब्दानुवाद

तथ् रूपमयी=उस परमेश्वर की सर्व व्यापकता का रूप ; **तथ् परमंगती**=(जो) ऊँची गति को देने वाला है ; **सर्वथानी**=सब ही जड़ और चैतन्य में ; **प्रवाही**=प्रवाहशील स्वरूप में (इस साधक को) दिखाई देती है ; **गति गट्**=यह परमात्मा सब ही जड़-चैतन्य को ; **पूरनी**=पूर्णत्व देता है ; (तथा) देंह=(उनके) शरीर की ; **छद्दा**=भूख-प्यास को (स्वयं ही) ; **त्वेपितम्**=तृप्त करता है। **समरथं**=समर्थशील; **स्वामी**=स्वयं ही भगवान; **परंमारथं**

---

१. तत् क, ख पाठ।
२. त्वत् तत् परमगति क, ख, ग पाठ।
३. प्रवाहे, घ पाठ।
४. घट, गटा क, ख पाठ।
५. छ्चदा, ख्युदा क, ख, ग पाठ।
६. तृप्तिं ख पाठ।
७. समर्थ, मन, क, ख, पाठ।

=अलौकिक परमार्थ स्वरूप को ; **विदानम्**=निश्चय करके देने वाला है ; **अन्तर मोंखी**=इस प्रकार की ईश्वर-सत्ता को जानने के उपरान्त साधक चिन्तक के फलस्वरूप ; **द्रेंष्टि**=दृष्टि प्राप्त करके ; **परमंगती**=अलौकिक अवस्था के ; **नेंरंवान**=मोक्ष की ; **रहस्य**=वास्तविकता को ; **तती**=वहीं, उसी समय में प्राप्त करता है ।।३।।

व्याख्या

ऊपर के दो श्लोकों में सिद्धा-भवानी ने इस तथ्य का संकेत किया है कि जब साधक को अभ्यास के द्वारा और सूक्ष्म चिन्तन के फलस्वरूप निरावृत्त-दृष्टि (खुली नजर) प्राप्त हुई हो तो वह समस्त पदार्थ-जगत (Objective-world) को केवल शिव-स्वरूप के आभास में ही देखता है । इस अलौकिक दशा में साधक को जड़ और चेतन की गतिशीलता उसी परम स्वरूप के प्रवाह में दिखाई देती है और वह शरीर की भूख को भी इसी आतमरस से सींचता है । कहने का अभिप्राय यह है कि "अन्नमयकोश" (शरीर की भूख-प्यास) को उसी स्वरूप के प्रवाह का अंश समझ कर अपने शरीर का पोषण करता है । इस प्रकार का सशक्त-साधक वास्तविक परमार्थ की प्राप्ति के उपरान्त समस्त शक्ति-चक्र का अधिकारी बनता है और आत्मा के साक्षात्कार होने के कारण सारे रहस्यों की कुँजी उसे प्राप्त हो जाती है उक्त पद्य की दूसरी पंक्ति का आशय इस प्रकार से भी स्पष्ट होता है :—सारे ब्रह्माण्ड (Cosmic universe) में छाई हुई उस दिव्य-शक्ति को देखने के उपरान्त, साधक के लिए अपने शरीर की सीमा फिर बाधक नहीं बनती है अपितु इस अपार आत्मानन्द के समुद्र में डूबकर साधक की शारीरिक इच्छाएँ खुद ही लुप्त हो जाती हैं, जिस प्रकार पानी की बूँद की इकाई तब तक एक विलग इकाई के रूप में होती है जब तक वह बूँद समुद्र से अलग है । समुद्र में मिलने के उपरान्त उसकी इकाई अपार समुद्र की अनन्तता में प्रकट होती है ।।३।।

उपनैंषद् पारिजाता[1] अखैंय् फल एंक[2]
अरंथी सद्‌ग्वरं योगी अदेहो[3] पुरानम्
बहु तीज़ वांणी[4] सुशीलम् सुदरंशन्
निरायु[5] अग्रायु परम दीपं बानो (प्रसन्नो)[6]
अन्तर मोंखी द्रंष्टो नेंरंवानं रहस्य तती परमगती ॥४॥

शब्दानुवाद

उपनैंषद्=उपनिषदों में इस ; **पारिजाता**=ब्रह्म रूपी कल्पतरु के ; **अखैंय्**=अविनाशी स्वरूप का ; **एंक फल**=अलौकिक फल की प्राप्ति का वर्णन किया गया है। **अरंथी**=वास्तविक अर्थ में ; **अदेहो पुरानम्**=यह परमात्मा आदि सिद्ध एवं शरीर से रहित है ; **योगी**=ब्रह्माण्ड के योग को अर्थात् जीव और ब्रह्म के आपसी सम्बन्ध के योग को सिखाने वाला ; **सद्‌ग्वरं**=सद्‌गुरु, वास्तविक गुरु है, वास्तविक गुरु वह है जिसने वास्तव में ज्ञान प्राप्त किया है ; ब्रह्म से साक्षात्कार किया है ; **बहु तीज़**=इस परमेश्वर का तेज अपार है ; **बहु वाणी**=इसकी अनन्त वाणी है ; **बहु सुशीलम्**=इसका स्वभाव बहुत ही शीतल एवं कोमल है ; **बहु सुदरंशन्**=इसकी सुन्दरता अनन्त है। **निरायु**=इस परमेश्वर की आयु (Age) कही नहीं जा सकती है अर्थात् यह परमेश्वर दिशा-काल (Time and space) से परे है। **अग्रायु**=इस परमेश्वर की सत्ता सृष्टि के आरम्भ में भी थी ; **परमदीपं बानो**=इसका तेज इस पृथ्वी के सूर्य से लाखों-करोड़ों गुना अधिक है ; [प्रसन्नो पाठभेद मानने पर अर्थ का तालमेल इस प्रकार से स्पष्ट होता है ; **परम दीपं प्रसन्नो**=उसका तेज लाखों-करोड़ों सूर्यों के समान होने के उपरान्त

---

१. परिजात ख पाठ।
२. अक्षय फल एकार्थी, अक्कार्थी, फल अकोय क, ख, च पाठ।
३. आदितो च पाठ।
४. वागी क पाठ, वंत्री च पाठ।
५. निनायु क पाठ।
६. प्रसादोक पाठ ; प्रसन्नो ग पाठ।

भी वह प्रकाश आँखों को प्रसन्नता देने वाला है,] अन्तिम पंक्ति का शब्दार्थ पहली पंक्ति की तरह ही चलता है ।।४।।

व्याख्या

उपनिषदों में इस ब्रह्मरूपी कल्पतरु की अर्थात् सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले इस "अक्षर ब्रह्म" (नाश से रहित परमात्मा) का बेहद वर्णन है। यही कल्पतरु रूपी (स्वर्ग का वह वृक्ष जो सब प्रकार की कामनाओं को पूरा करता है) ब्रह्म सभी सार्थक कामनाओं का समाधान करने वाले अच्छे गुरु के समान प्रकट होता है। यह ब्रह्म सब स्वरूपों में वास करने के उपरान्त भी शरीर से रहित है लेकिन यह सब की सृष्टि करने के उपरान्त भी स्वयं शरीर से रहित है। अतः यह आदि सिद्ध (स्वयं ही इसका निर्माण हुआ) है। इस ब्रह्म (परमात्मा) का आरम्भ है ही नहीं। इस ब्रह्म की वाणी अनन्त है, क्योंकि संसार में जितनी भी, सैकड़ों, भाषाएँ बोली जाती हैं वे वास्तव में उस "शब्दमयं ब्रह्म" (ब्रह्म का स्वरूप वास्तव में शब्द है) से ही उपजी हैं। जिस प्रकार जगत में अनन्त स्वरूप और आकार हैं उसी प्रकार उसमें अनन्त भाषाएँ हैं ? परन्तु इन सब भाषाओं का मौलिक उद्गम वास्तव में उसी शब्द से हुआ है जो सृष्टि की रचना के शुरू में गूँज उठा था। (आइन्स्टाइन का मत भी यही है कि सृष्टि की रचना के पूर्व पहला विस्फोट (Explosion) शब्द (Sound) का ही हुआ था। देखिये **"नान् टेकॅनिकल औपीनियन" ले० आइन्-स्टाइन**) इस परंब्रह्म के शीतल और सौंदर्यपूर्ण स्वरूप को देखने पर साधक में इस जगत के प्रति कुछ भी इच्छा नहीं रहती है क्योंकि जगत की सुन्दरता को देखकर शीतलता नहीं अपितु न मिटने वाली तपन (या एक भूख) पैदा होती है। इस ब्रह्म की आयु अथवा जन्म अनिश्चित है इसे हम दिशा-काल (Time and space) में बाँध नहीं सकते हैं क्योंकि दिशा-काल (Time and space) को

उत्पन्न करने वाला वही ब्रह्म है इसलिए उनसे वह स्वयं सीमित नहीं है। अतः वह (ब्रह्म) इस सृष्टि के आरम्भ के पूर्व भी था, मध्य में भी है और जब यह सृष्टि नहीं रहेगी तब भी उसका अस्तित्व (Existance) रहेगा। उस परब्रह्म का स्वरूप लाखों और करोड़ों सूर्यों से भी महान् है; अथवा वह परमात्मा सांसारिक जीव के अज्ञान रूपी अन्धकार को ज्ञान रूपी दीपक से दूर करके उसे आनन्दमय बनाता है। इस प्रकार की अनुभूति (Realisation) होने के उपरान्त साधक की ज्ञान की आँखें खुल उठती हैं और निर्वाण के रहस्य की स्पष्ट स्थिति उसके सामने आ जाती है ॥४॥

पवित्रं[1] नेंथुरं[2] पश्यत[3] मोंखी अन्तरं
बाहो बहुदनाडी असंख्य कांमं करत[4]
यिहोयं राजयूगी दाता पिता सुयं
सर्व कांखया सु अर्थ पूरनी[5]
अन्तर मोंखी द्रेंष्टी नेंरवान रहस्य तती परमंगती ॥५॥

शब्दानुवाद

मोंखी अन्तरं=जब साधक अन्तर्मुखी (Introvert) होकर चिन्तन के गम्भीर तत्त्व पर पहुँचता है तो; **पवित्रं नेंथुरं**=निर्मल आँखों से स्वयं अपने ही आत्मा को; **पश्यत**=देखता है। (इस स्थिति के होने पर यह साधक) **बाहो**=अत्यन्त; **बहुदनाड़ी**=परमार्थ रूपी धन का धनी बनता है (और); **असंख्य कांमं करत**=इस अवस्था में यह साधक कठिन से कठिन कामों को करने की क्षमता रखता है; **यिहोयं सुयं**=(इस प्रकार की अपार

---

१. पवित्र च पाठ, पवेतर क, ख पाठ।
२. नेत्र च पाठ, नेतुर क, ख पाठ।
३. पश्यत च पाठ पशीथ् क, ख पाठ।
४. कर्त् च पाठ, करतुम् क पाठ।
५. अर्थापूरनी क, ख पाठ।

शक्ति पाने के बाद) यही वह साधक ; **राजयूगी दाता पिता**=ऐश्वर्य योग का स्वामी, पोषण करने वाला और सब कुछ देने वाला बनता है और यही ; **सर्व सु अर्थं**=सब ही अच्छी ; **कांख्या**=इच्छाओं का ; **पूरनी**=पूर्ण करने वाला बनता है ।।५।।

(अन्तिम पंक्ति का अर्थ पहले ही दिया जा चुका है)

व्याख्या

साधक को जब अन्त: साक्ष्य (Self realisation) की नजर प्राप्त हो जाती है तब पवित्र नेत्रों से वह इस ब्रह्मानन्द के विकास को द्रष्टाभाव (Seer या ऋषि) से निहारता है । इस सर्व-सम्पन्न ऐश्वर्य पद को पाकर यह भाग्यशाली साधक परमार्थ का धनी बनता है क्योंकि भक्ति रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति के बाद पाने को क्या बाकी रह जाता है जिसकी वह इच्छा करे । इस अवस्था में साधक क्रम (Systematic), अक्रम (Unsystematic) और क्रमाक्रम (Systematic-unsystematic) इन तीनों प्रकार के कर्मों को करने की क्षमता प्राप्त करता है । अत: इस प्रकार की अनुभूति (Realisation) होने के पश्चात् यह राजयोग का अधिकारी बनता है अर्थात् सदेह (शरीर में) होते हुए भी विदेह (शरीर रहित) और विदेह होते हुए सदेह रहता है। (भारतीय संस्कृति में राजा जनक इसी–अवस्था के महापुरुष हुए हैं इसी कारण जनक राजर्षि "विदेहराज" कहे जाते हैं क्योंकि वे शरीर धारण करने के उपरान्त भी शरीर के मोह से बँधे नहीं थे) इस स्थिति में साधक विश्व का दाता और पालक बन जाता है और वह सब प्रकार की इच्छाओं को पूर्ण करने वाला हो जाता है । परन्तु यह तभी सम्भव है जबकि साधक को अन्दर की गहराई की दृष्टि प्राप्त हो जाती है । तब निर्वाण की ऊँची अवस्था उसके लिए बड़ी सुलभ बन जाती है ।।५।।

नेंर्लंज्ञा[1] रमन् परं रूफ[2] निदारा
स्रेंष्ठं थेंथं संहारी वेंलय्[3] चेंथं
अद्रेष्टो अग्रन्थो निजानो[4] प्रसन्नो
आदिदीव तथं निह्वानो[5] नेंष्कल थेरंरूफं[6]
अन्तर मोंखी द्रेंष्टी नेंरंवानं रहस्य तती परमंगती ॥६॥

शब्दानुवाद

नेंर्लंज्ञा=आत्म स्वरूप की वास्तविक दशा में पहुँच कर संसार की तथाकथित (Socalled) लज्जा से ऊपर उठकर ; **रमन्**=विहार करता है (क्योंकि) ; **परंरूफ निदारा**=उसे अपने स्वात्म-स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी स्वरूप की सत्ता दिखाई नहीं देती है ; (क्योंकि इस प्रकार के साधक को सारा ब्रह्माण्ड एक ही स्वरूप में विकसित दिखाई देता है) **स्रेंष्ठ**=यह साधक सदा ही सृष्टि ; **थेंथं**=स्थिति ; **संहारी**=संहार ; **वेंलय**=संहार के उपरान्त की अवस्था ; **चेंथ**=विलय (लय होना, जहाँ से आया था पुनः उसी स्वरूप में लौट जाना जैसे वृक्ष का पुनः बीज रूप में आना) के उपरान्त की स्थिति—इसे अनुग्रह की दशा भी कहते हैं [शैव-दर्शन में परमात्मा की पाँच शक्तियाँ हैं—"सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह, साधारण जीव में सृष्टि, स्थिति और संहार तो प्रत्यक्ष ही है, पहुँचा हुआ साधक विलय का अनुभव भी करता है परन्तु अनुग्रह की शक्ति परमात्मा की असीम शक्ति है अतः केवल तत्त्व-वेत्ता (Who has realised his soul) साधक ही इसका साक्षात्कार करता है] इन अवस्थाओं में सदा विचरण करता है ; इस कारण, **अद्दष्टो**=देखकर भी देखता नहीं है ; **अग्रन्थो**=पुस्तकों को पढ़ने के

---

१. निर्लज्जा क, ख पाठ ।

२. पररूप ग पाठ ।

३. प्रलय क, ख पाठ, विलय ग पाठ ।

४. निर्जानो ख, घ पाठ ।

५. निरहानि ख, च पाठ, निह्लादो ग, ख पाठ ।

६. रूप घ पाठ रूपस् क, ख पाठ ।

उपरान्त भी पढ़ने से ऊपर है ; **निजानो**=सब कुछ जानने के उपरान्त भी अनजान बना रहता है ; **प्रसन्नो**=यह (साधक) परमात्मा में लीन रहने के कारण सदा हर्ष में रहता है और ; **आदि दीव**=अपने स्वात्म देवता के ध्यान में, **निहानो**=किसी भी विकार के रहित, **तथ्**=उस निष्कल ध्यान में जहाँ भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत्काल विघ्न-बाधा पैदा नहीं कर सकते हैं, उसी **थेररूफ**=अविनाशी और अटल रूप में तल्लीन रहता है ।।६।।

व्याख्या

परमार्थ पद पर पहुँचे हुए योगी संसार के प्रलोभन एवं लालच के चक्कर में नहीं पड़ते हैं [संभवत: रूप-भवानी का संकेत तपस्विनी लल्लेश्वरी के प्रति है क्योंकि आत्म-साक्षात्कार के उपरान्त ललंदेद निर्वस्त्र (नग्न) होकर कश्मीर घाटी में घूमा करती थीं] क्योंकि इस साधक को "शिव स्वरूप" के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता है । संसार में विहार-रमण (ऐश तथा आराम) अपने से भिन्न विषय (Object) के साथ किए जाते हैं पर इस मुक्त हुए साधक के आमोद-प्रमोद (ऐश-आराम) केवल अपने आत्मस्वरूप के साथ ही होते हैं ।

साधारण मनुष्य अपने दैनिक जीवन में अक़सर तीन प्रकार की शक्तियों में उलझा रहता है :— सृष्टि, स्थिति और संहार । सृष्टि में अपने में ही उपजे हुए विचार को जन्म देता है ; स्थिति में इसी अपने जन्म दिए हुए विचार का पोषण करता है और संहार में अपने ही पोषित विचार का नाश करता है अथवा उसे भुलाता है । संहार का साधारण अर्थ नाश है पर सही मानों में किसी पदार्थ (Matter) का नाश नहीं होता है अत: संहार के बाद जो परम्परा (Continuity) अथवा सम्बन्ध बना रहता है उसे सामान्य मनुष्य अनुभव नहीं कर पाता है । परन्तु तत्त्ववेत्ता-साधक (Self-Realised individual) इस सम्बन्ध का अनुभव करता है कि संहार के बाद पदार्थ उसी विशेष अवस्था में आ जाता

है जहाँ से इसे जन्म मिला था। जैसे बीज से वृक्ष बनता है फिर वृक्ष स्वयं पुनः बीज के रूप में लौट आता है। विलय के बाद पाँचवीं अवस्था का स्थान आता है जिसे भवानीस्वरूपा रूपा ने "चैंथ" का नाम दिया है, इसे अनुग्रह शक्ति और "चित्" स्वरूप भी कहते हैं। अनुग्रह का सामान्य अर्थ है—"स्वयं अपने से उद्-भूत पर, स्वयं अनुकम्पा (दया) कराना"। यहाँ भवानी के कथन का आशय है कि साधक इन्हीं पाँच अवस्थाओं में प्रत्येक क्षण एवं प्रत्येक घड़ी विचरण करता रहता है, यही कारण है साधक सब कुछ देखने के उपरान्त भी और सब कुछ पढ़ने के उपरान्त भी, देखने और पढ़ने से ऊपर रहता है। साधक विकार रहित होकर, भूत, वर्तमान और भविष्य की समय-कलना से रहित, अपने से अभिन्न, आत्मस्वरूप में निश्चल होकर, सदा आनन्दमग्न रहता है। इस रहस्य के ज्ञाता वे ही समर्थशील भक्तजन होते हैं जिनकी दृष्टि अन्तर्मुखी हुई होती है, वे ही निर्वाण के रहस्य को जानकर परमपद के अधिकारी बनते हैं ॥६॥

लुद्र[1] वुच्चा[2] नं आसा नं गुवी नं बाशी[3]
न कुली नं क्रेत्यं[4] महानन्द रूपम्
शैयुम् थान वासी आदि सर्व मध्यम्
जिता सांञ्यासी नं बेंउ़न्[5] बेन्दं नादी
अन्तरं मौखी द्रेष्टी नेरवान रहस्य तती परमगती ॥७॥

शब्दानुवाद

लुद्र बुच्चा नं=जीवन मुक्त साधक को न रुद्राक्षमाला धारण करनी

---

१. लोध्र क, घ पाठ रुद्र ख, ग पाठ।
२. उच्चा क, घ पाठ, ओचार ख, ग पाठ।
३. वासी ख, ग पाठ।
४. करतीयम् क, ख, ग पाठ।
५. न बेंउ़न, न ब्यन क, ख, ग पाठ।

पड़ती है और न उसके लिए मुख से मंत्र का ही उच्चारण करना आवश्यक होता है, **आसा नं**=किसी प्रकार की आशा इसके मन में नहीं रहती है ; **गुत्री नं बाशी**=इसके लिए अपने गोत्र में रहना आवश्यक नहीं रहता है ; **नं कुली नं कैत्यं**=इस साधक का न तो कोई कुल (वंश) होता है और न उसे बहिपूजा आदि ही करनी पड़ती है ; **शैयुम् थानं बासी**=यह सदा ही आज्ञा-चक्र में निवास करता है, अर्थात् सहस्रार में ध्यान मग्न होकर निवास करता है ; **आदि सर्व मध्यस्**=यही कारण है वह सब ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत रहता है, **जिता सांञ्यासी**=इस प्रकार का यह जितात्मा साधक, **बैन्दं नादी**=नाद और बिन्दु के ; **नं बैउ़न**=अर्थात् अभेद स्वरूप से नाद-बिन्दु में निवास करता है ।।७।।

(अन्तिम पंक्ति का अर्थ पहले ही दिया जा चुका है ।)

व्याख्या

यह मुक्तात्मा साधक सांसारिक दिखावे के कारण न तो रुद्राक्ष माला ही धारण करता है न ही मुख से किसी मंत्र का उच्चारण करता है । इसके लिए किसी सम्प्रदाय (Cult) में अथवा किसी प्रकार के गोत्र-क्रम में रहना आवश्यक नहीं रहता । वह, माया के बन्धन से मुक्त साधक, पूर्ण-स्वातंत्र्य में रहता है । इस साधक को अपने कुल के कर्मों का पालन करना आवश्यक नहीं होता है क्योंकि वह सदा आत्मानन्द में विहार करता रहता है । वह साधक अपनी सारी चेतना को नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु और भ्रूमध्य के ऊपर लेकर, ब्रह्मरन्ध्र में सदा परमब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द में मग्न रहता है । इस प्रकार से यह योगी प्राणायाम (श्वास-प्रश्वास) की सत्ता का विजेता बनकर अलौकिक आनन्द का स्वाद चखता है ।

यथार्थ में कुण्डलिनी शक्ति के प्रादुर्भाव होने पर, एक प्रकार का वेग उत्पन्न होता है, उसका जो प्रथम स्फोट (Explosion) होता है उसे 'नाद' कहते हैं । नाद से प्रकाश का विस्तार होता है अतः प्रकाश के इस प्रकट-रूप को बिन्दु कहते हैं । योग-शास्त्र के

अनुसार नाद की तीन अवस्थाएँ होती हैं— (क) महानाद, (ख) नादान्त, (ग) निरोधिनी। बिन्दु के भी तीन भेद हैं—(क) इच्छा, (ख) ज्ञान, (ग) क्रिया। सिद्धा-भवानी के "शेंयुम् थान" (छटवें स्थान पर) कहने का तात्पर्य नाद-बिन्दु भी हो सकता है और उनके कथन का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि साधक आत्मा की चेतना को (१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्टान, (३) मणिपूर, (४) अनाहत, (५) विशुद्ध, (६) आज्ञाचक्र के ऊपर ले जाकर सदा ब्रह्मरन्ध्र में निवास करता है। इस प्रकार की अलौकिक दृष्टि के सम्पर्क से मुक्तात्मा साधक निर्वाण के रहस्य को प्राप्त करता है ।।७।।

नं जाया नं जन्मी द्‌ग्दं कंर्मकाण्डी[1]
यथा शान्त बस्मी अरूपा स्वरूपम्
सु सर्व सोंखी अदेंहो समादि
अमोह[2] सावदानं तथ् निष्कल निराकार
अन्तर मोंखी द्रेंष्टी नेंरंवानं रहस्य तती परमंगती ।।८।।

शब्दानुवाद

नं जाया नं जन्मी=इस प्रकार से मुक्त हुए साधक के न कोई पत्नी ही होती है और न इसे आवागमन के चक्कर में ही भटकना पड़ता है; **द्‌ग्दं कर्मकाण्डी**=वह सभी कर्म (जो करने चाहिए) और अकर्मों (जो नहीं करने चाहिए) से ऊँचा उठ जाता है; **यथा शान्त बस्मी**=इस प्रशान्त साधक का स्वरूप राख की आंच के समान शान्त होता है; **स्वरूपम् अरूपा**=शरीर के स्वरूप को धारण करने के उपरान्त भी, इसे अपने स्वरूप (शरीर) के प्रति कोई मोह-ममता नहीं होती है; (इस कारण) **अदेंहो समादि**=यह साधक शरीर रहित समाधि में डूबा रहता है (यही कारण है कि); **सु सर्व सोंखी**

१. दग्ध कर्म, कर्मकाण्डी क, ख पाठ।
२. व्यामोह क, ख पाठ।

=यह साधक सदा सुखी रहता है; **अमोह सावदान**=इस साधक की यथार्थ पर नजर होने के कारण मोह-ममता से रहित सावधानता (होशियारी) रहती है, (और) **तथ् निष्कल निराकार**=इस साधक की दृष्टि काल कलना से उल्लंघित ब्रह्म-स्वरूप की निराकारता पर सदा ही सावधान रहा करती है ॥८॥

(अन्तिम पंक्ति का अर्थ पूर्ववत् ही चलता है)

व्याख्या

इस साधक को वासना-पूर्ति के लिए स्त्री की आवश्यकता नहीं रहती है, वह आत्मानन्द के रसास्वादन में डूबा रहता है अतः स्त्री-सुख के क्षणिक रस की उसे इच्छा ही नहीं होती है। वह आवागमन के बन्धनों को ज्ञान की अग्नि से भस्म करके "अजन्मा" (जन्म रहित) बनता है और कर्म (जो करना चाहिए) और अकर्म (जो नहीं करना चाहिए) इन दोनों ही भटकाने वाली दशाओं से ऊपर उठकर कर्म और अकर्म को भस्म कर देता है। इस कोटि का यह साधक जगत में रहकर भी जगत से विमुक्त होकर रहता, वह किसी हठ के कारण नहीं अपितु स्वभाव के अनुसार ही ऐसा करता है। शरीर का आकार और रूपरेखा होने पर भी यह आकार रहित स्वरूप में रहता है, विश्वमय होकर भी विश्व से अलग-थलग रहता है। वह स्वतंत्र एवं स्वच्छन्द साधक शरीर-हीन समाधि (अर्थात् कुम्भक, रेचक आदि के बिना ही समाधि) का अखण्ड सुख अनुभव करता है— [तुलना कीजिए—**"लोकानन्दःसमाधि सुखम्**—शिवसूत्र १८, शांभोपाय] और निरन्तर काल और दिशा (Time and space) से ऊपर उठकर परंब्रह्म के मनन-चिन्तन में सावधान होकर मग्न रहता है। उसे किसी भी स्थिति में मोह अथवा भ्रम का आभास नहीं रहता है। अर्थ इस प्रकार से और भी स्पष्ट होता है:—यह साधक "अमोह" ["अ" से लेकर "ह" तक समस्त वर्णराशि (अक्षर माला) में] होता है इसलिए कहीं भी उसके लिए मोह नहीं होता है। अथवा यह

साधक सदा वास्तविक स्वरूप के चिन्तन में मग्न रहता है, या ज्ञाता (Knower) बनकर यह साधक इस जगत में विचरण करता है, इस प्रकार की अन्तर्मुखी दृष्टि उपलब्ध होने पर सर्वश्रेष्ठ निर्वाण की प्राप्ति होती है ।।८।।

अहं[१] तं ममता गालिथ थेथं[२] प्रंलय ना आसे
युथ्[३] ना आसे मीलिथ् कवलदल ज़लं बेंन्द्
मध्य आकांशी कदाचित् ब्रंछ ना[४] आसे
लंगि न[५] तु क्या वाचें फला रसं ग्येंनी
शेंला ज़ल संग[६] अगुनं दाह बस्मों
साद् तैयं पसमु[७] सर्व अन्तर स्रेष्टी
अन्तमुखी द्रेंष्टी नैरंवान रहस्यतती परमंगती ।।९।।

शब्दानुवाद

अहं तं ममता गांलिथ्=यह साधक कृत्रिम-अहं (False-ego) और ममता का पूरी तरह से शमन करके (दबाके) ; **थेथं प्रंलय ना आसे**=सृष्टि स्थिति और नाश के (आवागमन के) चक्र से मुक्त होता है ; **युथ् ना आसे मीलिथ**=इस साधक का भगवत्-समावेश (भगवान के साथ मिलन) अथवा भगवान के साथ घुलमिल जाना इस प्रकार का नहीं होता है जिस प्रकार से ; **कवलदल ज़लं बेंन्द**=कमल की पाँखुड़ी पर पानी की बूँद होती है । कमल

---

१. अद्दन्ता ग पाठ ।
२. स्रेष्ठ ख पाठ ।
३. युथा न ग पाठ, यिथुन क पाठ ।
४. वृक्ष क, ख, ग पाठ ।
५. ना च पाठ ।
६. जलगस ग पाठ ।
७. तापसो क पाठ ।
८. विस्मयो च पाठ ।

का पत्ता और जल की बूंद सदा एक दूसरे से अलग-अलग रहते हैं अर्थात् साथ रहते हुए भी कमल-पत्र से पानी और पानी से कमल-पत्र सदा अपना अस्तित्व भिन्न (Separate entity) रखते हैं। कहने का आशय यह है कि साधक और भगवान आपस में घुलमिल जाते हैं। **कदाचित् मध्य आकांशी ना ब्रंछ आसे**=[इस साधक और भगवान की स्थिति काल्पनिक (Imaginary) भी नहीं है—इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए भवानी कहती हैं] यह भी संभव नहीं है कि यह (ब्रह्म और जीव का) सम्बन्ध शून्य आकाश के बीच पेड़ के समान है। कहने का अभिप्राय यह है कि आकाश की शून्यता में पेड़ का उगना एक असंभव (निराधार) कल्पना है, पेड़ के लिए पृथ्वी (आधार) का होना अनिवार्य है क्योंकि जड़ पृथ्वी में रहकर तने और डालों को रस से सिंचित करती है। **क्या वाच्‌** =क्या वाणी ; **नतं लंगि**=सीमा से बाहिर होकर इस साधक के यथार्थ स्वरूप को वर्णन कर सकती है अर्थात् नहीं ; **फला रसंग्येनी**=(क्योंकि) साधक की साधना का फल ही तो ज्ञान का प्रवाहशील रस है ; **शैला जल अगुनं दाह बस्मो संग**=इस प्रशान्त साधक का स्वभाव अथवा उसकी स्थिति कभी पत्थर से भी कठोर कभी जल से भी अधिक तरल (Liquid) और प्रवाहशील, कभी आग की लपट से भी अधिक जलाने वाली और कभी इसका स्वभाव भस्म (राख) से भी अधिक शान्त होता है ; **सर्व अन्तरं संष्टी**=इस साधक के अन्तःचिन्तन में यह सारा बाहिर का जगत (Objective world or universe) लीन रहता है अतः **साद**=यह परमार्थ स्वरूप ; **पसमु**=अपार विस्मय में लीन रहता है। प्रथम पंक्ति का अर्थ पूर्वोक्त प्रकार से ही है। [कश्म० >लंगि, प्राकृत >लघि (संस्कृत=उल्लंघितः) कश्म० >पसमु, प्राकृत >पसमय >पसमउ (संस्कृत= विस्मय)] ॥६॥

व्याख्या

यह तत्त्ववेत्ता साधक कृत्रिम अहं (False ego) के ममत्व के भ्रम में नहीं पड़ता है क्योंकि बनावटी अहंकार का उदय पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन-बुद्धि और अहंकार से होता है अतः इनसे उत्पन्न अहंकार नाशवान और क्षणिक होता है, इसी कारण यह साधक इस प्रकार के झूठे अहं (ego) को मिटाकर,

"थैंथ-प्रैंलय" अर्थात् सृष्टि (Creation), स्थिति (Preservation) और संहार (Destruction) के चक्कर को मिटाकर इनसे ऊपर उठ जाता है, अथवा "थैंथं" (जन्म) और "प्रैंलय" (मरण) के आवागमन से छूट जाता है। इस अलौकिक अवस्था के साधक जगत में आहार-विहार करने के उपरान्त भी जगत में कभी लिप्त (Attach) नहीं होते हैं। [तुलना कीजिए :—**"तेषां तत्र स्वरूपस्य स्वज्योतिष्ट्वं न लुप्यये"—"तत्त्वगर्भग्रन्थ"**] अर्थात् उन्हें अपनी वास्तविकता का विस्मरण नहीं होता है।

इस साधक को कमल के पत्ते और जल की बूँद के समान भगवत्-सामीप्य प्राप्त नहीं होता है क्योंकि कमल का पत्ता और जल की बूँद सदा साथ-साथ रहने पर भी कभी भी एक दूसरे में लीन नहीं होते हैं। अपितु कमल और बूँद सदा ही अपना पृथक् अस्तित्व (Separate entity) रखते हैं। किन्तु साधक साधना के द्वारा साध्य में सम्पूर्ण रूप से लीन हो जाता है, जिस प्रकार बूँद की इकाई समुद्र में लीन हो जाती है। इस साधक के लिए भगवत् प्राप्ति की साधना किसी भी हालत में काल्पनिक (Imaginary) नहीं होती है। इस आशय को समझाती हुई भवानी उदाहरण देकर स्पष्ट करती है :— परंब्रह्म और साधक का आपसी सम्बन्ध शून्य आकाश के बीच वृक्ष के समान निराधार नहीं है क्योंकि आकाश के बीच वृक्ष (पेड़) का होना अथवा उगना एक असंभव (निराधार) कल्पना है। पेड़ के लिए पृथ्वी अर्थात् आधार का होना अनिवार्य है। जब जड़ पृथ्वी में होगी तब ही पेड़ की डालें, पत्ते और फल-फूल खिल सकते हैं।

साधक की इस अलौकिक अवस्था को व्यक्त करना अथवा स्पष्ट करना भाषा के अथवा वाणी के माध्यम (Medium) से सम्भव नहीं है क्योंकि भाषा इस आध्यात्मिक तथ्य को कह नहीं पाती है अतः यह "गूँगे का गुड़" बन कर रह जाती है। इस साधक की साधना ही

स्वयं ज्ञान-गंगा के रूप में प्रवाहशील होकर रसात्मक फल का आस्वादन करती है। इस प्रशान्त पद को प्राप्त किए हुए साधक का स्वभाव (अथवा उसकी अवस्था) कभी पत्थर से भी कठोर, कभी जल से भी अधिक तरल (Liquid) और प्रवाहशील, कभी आग की लपट से भी अधिक दाहक (जलाने वाली) और कभी इसका स्वभाव भस्म (राख) से भी अधिक शान्त होता है। इस प्रकार अन्त:दृष्टि (Inner sight) से सम्पन्न यह साधक आश्चर्य से विस्मित होकर उस अपने से अभिन्न "साद" (साध्य) अर्थात् परमतत्त्व (Absolute being) अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। तुलना कीजिए "विस्मयोयोग भूमिका :—शिवसूत्र–१२। इसी विस्मय के कारण इस साधक की बहिर्प्रकृति कभी कठोर और कभी कोमल बन उठती है। वस्तुत: कपटियों के लिए यह कठोर और भक्तजनों के लिए सरस होती है। इस प्रकार से यह मुक्तात्मा परम तत्त्व के रहस्य को पाकर श्रेष्ठ निर्वाण का अधिकारी बनता है ॥९॥

वीद्वाख् अर्था अम्रेत् नदी संप्रीता[1]
अनीख् प्रवाही समनथ्[2] षोडशचन्द्र कल्
स पण्डिता समदर्शयंग्नी अरचनीदीवं
सु नेंरंमल तोत्री सथ् तवं[3] पांठि
सर्वलं जगद् ग्वरू सीवा अनन्त पूजनी एंक
अन्तमुंखी द्रेंष्टी नेंरंवान रहस्य तती परमगती ॥१०॥

शब्दानुवाद

वीदवाख्=वेदों की वाणी रूपी ; **अर्था**=अर्थ अथवा सार को ;

---

१. संपीता ग, घ पाठ।
२. समन्वय क, ख, ग पाठ।
३. तव पाठी घ पाठ, तौ पाठी च पाठ।

अम्रेत्=अमृत ; **नदी**=नदी में ; **संप्रीता**=तृप्त कराके ; (तथा) **अनीख्**= अनन्त अथवा अनेक ; **प्रवाही**=प्रवाहशील ; **समंनय**=समरसता अथवा भेद रहित रस को ; **षोडशचन्द्र कल**=सोलहवीं चन्द्र-कला में विलीन होता है ; अर्थात् अमावस्या की पन्द्रह और पूर्णिमा की एक कला को प्राप्त करके षोडशकला से पूर्ण होता है ; **स पण्डिता**=यही साधक वास्तव में सही पण्डित है ; **समदंर्शग्यंनी**=यह सब प्राणीमात्र में समान दृष्टि रखता है ; **अरचनीदीवं**=यही सही अर्थों में पूजा करने के योग्य देवता है, अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार से सर्वथा शुद्ध होता है ; **तोत्री**=यही वास्तव में स्तोत्र का गायन एवं ; **सथ् तवं पांठि**=सत्यता से स्तवण कर सकता है ; (अर्थ इस प्रकार से भी स्पष्ट हो सकता है—यह साधक तल्लीन होकर समाधि के अखण्ड आनन्द में स्पष्ट रूप से सात स्वरों का गायन करता है।) **सर्वत्रं जगद् ग्वरू**=यही साधक प्रत्यक्ष रूप में समस्त जगत को मोक्ष का मार्ग बताने वाला गुरु है ; **सीवा अनन्त पूजनी एंक**=इस प्रकार का साधक लाखों में एक होता है जो वास्तव में सारे संसार में अपार सत्कार और पूजा के योग्य होता है ॥१०॥

व्याख्या

ऐसा साधक साक्षात् ज्ञानरूपी वेद-वाक्य के अर्थ को अमृत रूपी नदी में तृप्त कराके तथा अनेक प्रकार की (सर्वव्यापी) प्रवाहशील षोडश कलाओं का समन्वय करके अन्ततः अमा-कला और पूर्णिमा-कला को आत्मसात् करता है। कथन का अभिप्राय है:—वेद-वाक्य अनन्त है और मतमतान्तरों के कारण उनके (वैदिक ऋचाओं के) अर्थ, भाष्य, टीकाओं और टिप्पणियों में बड़ी विभिन्नता (फर्क) दिखाई देती है, जिससे साधारण व्यक्ति बड़ी भ्रान्ति में पड़ जाता है। परन्तु इस तत्त्ववेत्ता (Who has realised his self) साधक के लिए जब भिन्न-भिन्न प्रवाहपूर्ण ज्ञान-गंगाएँ अभिषेक के लिए आतीं हैं तो यह साधक अपनी निर्द्वन्द (Non-dual) दृष्टि से उनकी सारपूर्ण बातों को ग्रहण करके निस्सार तथ्यों को फेंक देता है। अतः उनका अनेकाकार मिटकर ऐक्याकार बन

उठता है। इस प्रकार से भी अर्थ संभव हो सकता है:—"केवल शब्दवादी 'ब्रह्म' के कथन से मुक्ति की कामना कभी भी सम्भव नहीं हो सकती है। अपितु जब शब्द (शिव) और अर्थ (शक्ति), इन दोनों ही तत्त्वों का सम्मेलन होता है तब अवश्य ही अमृत-पूर्ण नदी का आविर्भाव होता है। तभी तो अमाकला (पन्द्रह) और पूर्णिमा कला (सोलह) का समन्वय होता है। अमाकला—**"अमा-पूर्णकलशहस्तश्च**—अर्थात् अमाकला अमृतपूर्ण कलश से संयुक्त है और पूर्णिमाकला (सोलहवीं) में साधक इस अमृत का आस्वादन करता है। अमाकला और पूर्णिमाकला इन दोनों को साधक "प्राणापान" करके काकिनी[1] नाड़ी को जागृत करता है और अमृत का पान करता है। वास्तव में अमाकला (अमावस्या) "काल मंजरी" है[2] और षोड़शीकला "कालातीत"[3] है। साधक अमारूपी कालक्रम को पूर्णिमा रूपी नित्यकला से कालातीत बनाता है जिसके फलस्वरूप साधक पूर्ण अवस्था को प्राप्त करके वास्तविक पण्डित, समदर्शी, पूज्य, प्रशंसनीय और यथार्थ परमार्थ का पात्र बनता है। वह निषाद-धैवत आदि सात स्तरों के माध्यम से निर्मल स्तोत्र का गायन कर सकता है। इस अवस्था का साधक प्रत्यक्ष रूप में जगत का गुरु बनकर अपार जन समूह का आराध्य बनता है। इस प्रकार की अन्त: (भीतर की) दृष्टि प्राप्त करने के उपरान्त साधक स्वाभाविक रूप से मोक्ष का अधिकारी बनता है ॥१०॥

इति, निर्वाणदशकी समाप्त

---

१. रीढ़ की हड्डी के ऊपर गर्दन और सिर के जुड़ने के स्थान पर जो अमृत प्रवाहिनी नाड़ी है।

२. भूत, वर्त्तमान और भविष्य तीनों कालों को एक साथ देखने वाली आर्थात् त्रिकालज्ञ।

३. जहाँ दिशा और काल समाप्त हो जाते हैं। साधक इन दोनों से परे हो जाता है अर्थात् इनकी सीमा में नहीं बंधता।

ज्ञान खण्ड

ओम् ग्वरं अन्तर तथ् निर्मलम्
शुद्धं अतैंन्त तस् वैद्यादरम्
ललं नामं ललं परमाग्वरम्[1]
शिव माधव[2] नान्या[3] परंब्रह्म सोहम् ।।१।।

व्याख्या

मैं रूप भवानी अत्यन्त शुद्ध विद्याधर रूप ; भगवती ललदेंद (लल्लीश्वरी) को परम गुरु स्वरूप जानकर ; उन्हें ओंकार के समान अपने निर्मल हृदय में ठहराकर ; तथा अपने पूज्य पिता, शिव स्वरूप माधव को परंब्रह्म स्वरूप जानकर, ब्रह्मज्ञान के "अहं स्वरूप" (Self-realised state) में लीन हो रही हूँ ।।१।।

विशेष

"विद्याधर" शब्द व्यक्ति-वाचक संज्ञा है क्योंकि इसका प्रयोग वाक्य में इसीलिए किया गया है। संभवतः इस नाम का कोई महापुरुष रूपंभवानी के समय में रहा होगा जिस पर सिद्धाभवानी की अपार श्रद्धा रही होगी, इसका प्रमाण—"शुद्धं अतैंन्ततस्

१. परमं ग्वरम् ख पाठ ।
२. मादवं ख पाठ ।
३. अनन्य ख, ग पाठ ।

विद्यादरम्" वाक्य है। अनुमानतः सिद्धा भवानी ने आरम्भिक विद्या या ज्ञान इनसे प्राप्त किया होगा। यह भी संभव है कि ये विद्याधर भवानी के कुलगुरु अथवा विद्यागुरु रहे हों। यदि हम विद्याधर को व्यक्ति-वाचक संज्ञा नहीं स्वीकार करते तो इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार से हो सकता है :—"मैं शुद्ध-विद्या (Imperical knowledge) के सूक्ष्म-अंकुर के विकास के समान निर्मल-ज्ञान को अपने हृदय में विद्यमान **"ओंकार"** रूपी अपने गुरु को प्रणाम करती हूँ उसी प्रकार जिस प्रकार लल्लीश्वरी के निष्कल (तटस्थ, शान्त एवं सन्तोषी) हृदय में स्वात्म इच्छा रूप **"ओंकार"** का उदय हुआ था। तीसरी पंक्ति में "लल" शब्द दो बार आया है। प्रथम "लल" शब्द का संकेत लल्लीश्वरी से है और दूसरे "लल" शब्द का अर्थ है **"इच्छा"** क्योंकि संस्कृत में "लल" का अर्थ इच्छा ही है।

अब **"ललं परमाग्वरम्"** को स्पष्ट रूप से देखने का प्रयत्न करेंगे। यदि गुरु-क्रम की परंपरा को देखें, तो स्पष्टि इस प्रकार से होती है, जिससे गुरु-मंत्र ग्रहण किया जाए उसे **"गुरु"** कहते हैं और गुरु के गुरु को **"परमगुरु"** कहते हैं। कश्मीर के शैव शास्त्रों में **"परमगुरु"** का प्रयोग उनके लिए भी आया है जो ज्ञान और विद्या में विशेष प्रतिष्ठित रहे हैं। ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर सिद्धा-भवानी और लल्लीश्वरी के बीच लगभग तीन सौ वर्षों का अन्तर है। इस कारण सिद्धा-भवानी के लिए लल्लीश्वरी को "परमगुरु" मानना संभव नहीं है। संभवतः सिद्धा-भवानी ने लल्लीश्वरी के अद्भुत् और दिव्य जीवन से भावात्मक प्रेरणा प्राप्त की हो जिसके फलस्वरूप भवानी ने लल्लीश्वरी को **"परमगुरु"** का स्थान दिया है।

"शिव-माधव"—यह शब्द-युगल (जोड़ी) बहुत ही सार्थक है क्योंकि सिद्धा भवानी के लिए शिव और विष्णु (माधव) में कोई

भेद नहीं है। इसके अतिरिक्त अर्थ की ध्वनि यह भी है कि माधव (भवानी के पिता "माधव जू दर") सिद्धा-भवानी के लिए कल्याण करने वाले, शिव के समान ही हैं ॥१॥

क्रैंपा करे संर्व[1] रूगा[2] हरें नेंत्यं
ग्यानी छाल फिरे[3] तान् तान् वेंसरे
समादि-देह विसंमरे[5] सैय् अग्नंवंतूरं[6]
अखंड येंग्ज़ं करे अगू̆न प्रज़्वाले
गीता पडे बेंथि च़ेने कंपाल[7] मूच़े
गूपाल जुव नाट्य करे गूपी सहाय् ॥२॥

व्याख्या

इस अलौकिक भगवत्-मार्ग पर आने के कारण साधक को पहले भगवान की अपार कृपा प्राप्त होती है जिसके फलस्वरूप दैहिक रोगों और मानसिक राग-द्वेष से छुटकारा पा जाता है। इस दैवी अनुकम्पा (दया) के कारण ज्ञानी पुरुष क्षीर-नीर (दूध और पानी) का न्याय कर सकता है अर्थात् ज्ञान की स्वतंत्रता में वह विहार करता है और प्रत्येक अणु (ज़र्रे) में उसी (ब्रह्म के) ज्ञान और स्वातंत्र्य का विस्तार देखता है। अर्थात् वह साधक

---

१. सोरूय क पाठ, सर्वें ख, ग पाठ।
२. सर्वराग ग पाठ, रोगान् ख पाठ।
३. फिर्यस ख पाठ।
४. विछरारे ख, घ पाठ।
५. समरे क पाठ।
६. अग्निवर्त्तन ख, ग पाठ।
७. कल ख, ग पाठ।

परंब्रह्म, सम्पूर्ण जगत और स्वयं अपने में उसी ब्रह्मकी ज्योति का आभास देखता है। यह साधक समाधि में मिलने वाले ब्रह्मानन्द में अपने शरीर की भौतिक (Material) सत्ता को भूल जाता है अथवा समाधि के अखण्ड-यज्ञ की अग्नि को जलाकर यह साधक अपने शरीर को यज्ञ-सामग्री बनाकर उसी ज्ञान-अग्नि में इसे (अपने शरीर को) अर्पित करता है--"शिवसूत्र संख्या–८ से तुलना कीजिए—**"शरीरं हवि"** अर्थात् शरीर ही घी है। यही वास्तव में होम-सामग्री (हविष्य) है, साधक इसी को समाधि की अखण्ड-ज्ञान-रूपी अग्नि में अर्पण करके, मोक्ष का अधिकारी बनता है।

इस प्रकार से अपने चिन्तन के धरातल को श्रीमद्‌भगवद् गीता के ब्रह्म-ज्ञान से पुष्ट कराके और इस ब्रह्म-ज्ञान की चेतना (Consciousness) से अपनी शंकाओं का समाधान करके यह साधक अपने सिर को भी आहुति बनाकर, श्रीफल (बेल) के रूप में, इसे ब्रह्माग्नि में अर्पित करता है। अर्थात् तर्क-वितर्क सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं और कृत्रिम-अहंकार (False-ego) रूपी सिर (अहं) शंका से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार की दशा प्राप्त होने पर साधक "गोपाल" बनकर सारे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों (गो =इन्द्रिय) का पालन करने वाली (या धारण करने वाली "आत्मा", और "गूपी सहाय" (अर्थात् "गो" चित सूर्य) के प्रकाश की सहायता से अखण्ड ब्रह्मानन्द रूपी रासलीला का साक्षात्कार करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि योगीश्वर श्रीकृष्ण (साधक) का गोपियों (चित् सूर्य अर्थात् आत्म-प्रकाश) के समेत रास-मण्डल तभी पूरा बनता है जब मन, बुद्धि और अहंकार के सीमित बन्धनों से साधक मुक्त होकर स्वात्म को विश्वात्मा में लीन करता है ॥२॥

[इस वाक्य में 'गो' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त है :—'इन्द्रिय' तथा 'चित् सूर्य' ।]

युस्[1] हुमं सूय मदुरस् गैब कांनि दिये
कन्द हुमे[2] खण्ड हुमि पनंनुय दीह
श्रीफल ज़ाफल सुफल[3] हैंड़्ये
मूरिथ् शोर तं[4] नंवीदस् ज़य् ॥३॥

व्याख्या

सत्य तो यह है कि ज्ञान-मार्ग में यज्ञ करने का क्रम कुछ और ही अर्थ रखता है अतः कोई बिरला ही साधक घी की आहुति के स्थान पर अपनी अनुभूति के आनन्द-रस को स्रुक-स्रुवा (आहुति करने का चम्मच) पर रख कर ब्रह्माण्ड की अग्नि में स्वाहा करता है तथा कन्द और खाँड़ के स्थान पर अपने स्थूल शरीर को ही इस होम की आहुति की सामग्री के रूप में प्रस्तुत करता है। अपनी अखण्ड तपस्या से उपार्जित (कमाए हुए) अच्छे कर्मों को श्रीफल (बेल) और जाफल बनाकर इस महायज्ञ में अर्पण करता है तथा इस महायज्ञ की पूर्णाहुति के रूप में नारियल (जो कि जटाधारी है) के स्थान पर अपना प्यारा सिर (कृत्रिम अहंकार =False ego) इस ब्रह्म-यज्ञ में चढ़ाता है। इस यज्ञ की समाप्ति पर जो प्रसाद या नैवेद्य इस साधक को प्राप्त होता है वह अवश्य ही तीनों लोकों में जय जयकार के योग्य होता है ॥३॥

समिवं वेंकारण कि नु अकुयं बेंयि
पानंति बेंयि किनं[5] यिहोय् अकुय्

---

१. युसूय होम सूय ख पाठ।
२. हूहे क पाठ।
३. साफल ह्ययि क, ख पाठ।
४. तं क, ख पाठ में नहीं मिलता है।
५. केंह् क, ख पाठ।

येग्ज़ेस् बेह्य तु बस्मं करिहे
अंग् नं बेयि केंह आंगन् द्राव ॥४॥

व्याख्या

यह समस्त विश्व तीन कारणों से बना है या इस समस्त विश्व रूपी नाटक के तीन ही पात्र (Actor) हैं, अर्थात् शिव, शक्ति और नर (मनुष्य)। जैसा कि शैव-दर्शन में भी कहा है—"**त्रिसिरो भैरवः साक्षाद्व्याप्यविश्वंचराचरम्**" नर अथवा मनुष्य का अस्तित्व (Existance) शिव-शक्ति के मेल (अथवा संघट्ट) से ही संभव है। नर अथवा मनुष्य की व्यापक सत्ता तब तक ही संभव है जब तक कि वह अपने सतत (लगातार) विमर्श (प्रतिभिज्ञा द्वारा अपने स्वरूप को पहिचानना)[1] के बल से शिव-शक्ति तत्त्व में अपने को विलीन करने का उद्योग करता रहेगा। उस स्थिति में पृथ्वी-तत्त्व (Earthly Element) से लेकर सदा-शिव-तत्त्व तक के सारे तत्त्व (Element) पुनः उसी में लीन हो जाते हैं और उसके उपरान्त शिव और शक्ति-तत्त्व में विलय होकर, साधक वास्तविक अहं-परामर्श (Super-Consciousness) की अनुभूति प्राप्त करता है।

अलक्ष्येश्वरी रूपभवानी का "त्रेंकारण" कहने से वास्तव में यही तात्पर्य है कि शिव, शक्ति और नर (मनुष्य) के बहिःप्रसरण (Outcome) से ही विश्व (Universe) का उन्मेष (Manifestation) होता है।

यह परमात्मा शिव, शक्ति और नर के क्रम से इस विश्व की सृष्टि करता है, स्थिति में इसका पालन-पोषण करता है, संहार की स्थिति में इसका बाहिरी स्वरूप समाप्त कर देता है और विलय की स्थिति में बहिःप्रसरण किए हुए (Self Manifested) इस विश्व को पुनः अपने में लीन कर लेता है। अनुग्रह

---

१. प्रतिभिज्ञा की व्याख्या के लिए देखिए अगले 'वाक्य' की टिप्पणी।

की स्थिति में इस समस्त विश्व को अपने स्वाभाविक स्वरूप की स्थिति में पहुँचाकर पुनः अद्वितीय-स्वरूप और "एकोऽहं" बनता है। उसके उपरान्त इस जगत की नाना रूपात्मकता और विविधता उसी एक ही इकाई (ब्रह्म) में समाकर एक ही रूप में प्रकाशित रहती है, अर्थात् प्रमेय-विश्व (Objective world or universe) प्रमातृ-स्वरूप (Self consciousness) में लय हो जाता है।

जब साधक इस प्रकार की ब्रह्माग्नि की साधना में लग जाता है तो अवश्य ही उसके मल (कालुष्य) भस्म हो जाते हैं और वह अपनी क्षणिक वासनाओं तथा जन्म-मरण की व्याधि से मुक्त होकर अपनी अबाध-इच्छा से इस विश्व के आँगन में आकर भी माया का दास नहीं रहता है। अर्थात् उसकी कोई भी इच्छा शेष नहीं रहती है (वह निष्काम हो जाता है) अतः इस संसार में आने से उसे हर्ष नहीं होता है और यहाँ से जाने पर दुःख नहीं होता हैं ॥४॥

पाता छ़ाल फीरिथ्[1] तं खोंडुम्
मेंछ़ि तं कञ्यं मंज् ओंनुम[2] पय्
अदं नद् वुज़ुम[3] तं गलं मद् प्यवुम्
प्रबात् स्नात[4] सत्[5] प्रज़ोल[6] तं ना केंह ॥५॥

व्याख्या

मैंने प्रत्यभिज्ञा (Re-Cognition) [अर्थात् पीछे की तरफ मुड़ कर यह स्पष्ट जानना चाहा कि क्या यह 'वही' है] के द्वारा पुनः

१. मांरिथ् क पाठ।
२. कोंडुम् क, ख पाठ।
३. वुजुम् ख, घ पाठ।
४. साथ क पाठ।
५. स्वथ् क, ग पाठ।
६. प्रजांलु ख, घ पाठ।

(दुबारा) लौटकर उस परम-तत्त्व (Supreme being) का चिन्तन किया और शरीर और मन [संस्कृत > मृत्तिका > म्रतिका > मेचिका > कश्म० मेंच' अर्थात् शरीर, संस्कृत > काठिन्य > कठिन्य > कन्य > कश्म० कज्यं अर्थात् (पत्थर) मन के मध्य-भाग से गहन चिन्तन और साधना के फलस्वरूप—दूध (अमृत) को बाहिर खींच निकाला जिस प्रकार साधारण रूप में हम मिट्टी और कंकड़ों को खोदकर कुँआ बनाकर पानी निकालते हैं उसी प्रकार शरीर रूपी मिट्टी और मन रूपी कंकड़ को खोदकर मैंने (सिद्धा रूपभवानी ने) अपने में अमृत का कुण्ड उत्पन्न किया। इसके उपरान्त निरन्तर बहनेवाली अमृत-गंगा का उदय हुआ और ग्लानि-रूपी अहंकार को ज्ञान-गंगा में डुबो दिया। जिसके फलस्वरूप समस्त क्षोभ रूपी मैल धुल गया और इसके बाद सत्य-ज्ञान का निर्मल सूर्य उदय हुआ। फिर, कुछ भी कहने की इच्छा बाकी नहीं रही, अर्थात् चित्सूर्य (Sun of Self illumination) के साक्षात्कार होने के उपरान्त कहने को कुछ भी शेष नहीं रहा ॥५॥

टिप्पणी

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन (Re-Cognition School) कश्मीर का एक प्रधान दर्शन है। यद्यपि यह दर्शन बहुत ही प्राचीन है पर समय के क्रूर-प्रहारों के कारण यह दर्शन लुप्त हो चुका था। ईसा की आठवीं शती में आचार्य वसु गुप्त, आचार्य सोमानन्द, भट्ट कल्लट, आचार्य उत्पलदेव और अभिनगुप्त आदि आचार्यों के अथक परिश्रम से इस विस्मृत-दर्शन का उद्धार फिर से हुआ। प्रत्यभिज्ञा का सामान्य अर्थ है—"किसी वस्तु का फिर से अनुसन्धान करना अथवा जानना। सांसारिक मल के कारण अपने भूले-भटके स्वरूप का पुनः सही साक्षात्कार करना।" उदाहरण से यह इस प्रकार स्पष्ट होता है :—

मान लीजिए संयोग से शेर का एक बच्चा भेड़ों के रेवड़ में पाला-पोसा जाता है। संग-दोष के कारण यह शेर का बच्चा अपने स्वभाव को भूलकर भेड़ों का सा ही आचरण करता है। अकस्मात् एक दिन जंगल में

शेर की गर्जना गूँज उठती है। घास चरते भेड़ अपने स्वभाव के अनुकूल भागते हैं और भागते-भागते उन्हें नदी को तैरकर पार करना पड़ता है। शेर का बच्चा भी संग दोष के कारण भेड़ों के साथ-साथ भागता है परन्तु नदी पार करते समय यह अपनी परछाईं देखकर चौंक उठता है क्योंकि इसकी शक्ल-सूरत भेड़ों से मेल नहीं खाती। अतः यह मुड़ के गर्जन करने वाले शेर को देखकर और परछाईं की अपनी सूरत को ध्यान में रख झट समझ जाता है कि "मैं भी वास्तव में शेर ही हूँ।" अतः दहाड़ लगाकर इसे अपने खोये हुए सिंह-भाव का ज्ञान प्राप्त होता है।

यहाँ अलक्ष्येश्वरी के कहने का अभिप्राय यह है—"वास्तव में, मैं भगवती शारिका के अंशरूप में अवतरित हुई हूँ किन्तु संसार के तीन मलों, **१—आणव-मल** (शरीर की सीमा का मल), **२—माया-मल** (अपने वास्तविक स्वरूप के विस्मरण होने के कारण तथा माया के चक्कर में पड़कर उसी को (माया को) सत्य मानने का मल) **३—कार्ममल** (यह अच्छा कर्म किया इस कारण अच्छा फल मिला, यह बुरा कर्म किया इस कारण बुरा फल मिला इस भाव का मल) के कारण अपना सही स्वरूप खो चुकी थी परन्तु 'प्रत्यभिज्ञा' करने से मेरा वही खोया हुआ स्वरूप फिर से प्रकट होकर सामने आया है।

हञि हञि पाताल[२] गगन[३] गमे
मूरत् ना[४] मूरत् पांछः तत्व्
चीतन् मिलिहे[५] शून्यंति गले
शनंवुनीय् छैय् अकैय[६] सथ् ॥६॥

व्याख्या

धीरे-धीरे अन्दर और बाहिर का भेद मिटता जाएगा और

१. अनि क पाठ।
२. ज्योन ख, ग, घ पाठ।
३. मरुन् क, ख, ग पाठ।
४. सूरत्-सूरत् ना पच्च ख, ग पाठ।
५. मले क पाठ।
६. सा क, ख, ग पाठ।

ये प्रत्यक्ष (Obvious) पाँच तत्त्व—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—अवश्य ही मिट जाएँगे। अथवा जब भेद मिट जाएगा तो अवश्य ही ऊँची अवस्था के पाँच तत्त्व—चित्, आनन्द, इच्छा-ज्ञान और क्रिया प्रकट हो जाएँगे। ऐसी अवस्था में अपनी चैतन्य-स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होने के उपरान्त शून्य की सी दशा मिट जाएगी और मन के समेत शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध भी समाप्त हो जाएँगे क्योंकि उस अवस्था में एक ही चैतन्य-स्वरूप आत्मा का अस्तित्व रह जाएगा।

विशेष—अलक्ष्येश्वरी के कथन का अभिप्राय यह है कि अब 'पाताल-गगन'' अर्थात् मरण और जन्म अथवा आवागमन का चक्र धीरे-धीरे मिट रहा है ऐसी स्थिति में पंच महाभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का आभास होने पर भी इनका आकार माया-जनित आभास के समान नहीं दिखाई देता है। इस के उपरान्त मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जब ये छः तन्मात्र पूरी तरह से मिट जाते हैं तो एक प्रकार की शून्य अवस्था हो जाती है। शून्य की क्षणिक अवस्था के मिट जाने पर आत्म-बोध की चेतना (Self consciousness) जाग उठती है। भवानी के "**शून्यतिं गले**" का तात्पर्य यह नहीं है कि शून्य कोई अवस्था है अपितु कथन का अभिप्राय यह है कि मन के समेत **तन्मात्रों** के ओझल हो जाने के बाद थोड़े समय के लिए शून्य की स्थिति उभर उठती है और यही शून्य चैतन्य का आधार बनता है। अतः ये छः तत्त्व अन्त में चैतन्य स्वरूप आत्मा में ही रहते हैं ॥६॥

आसे बॅ़यि[1] नं, आसे पान
नासे[2] ग्रास करे पवन

---

१. ब्वय क, ख पाठ।
२. ना आसि च पाठ।

रस कांखे[1], नं केंह फासे
नासीत्[2] कांह आसीत्[3] बेंयि ॥७॥

व्याख्या

साधक ब्रह्मानन्द की अवस्था में पहुँचकर अद्वितीयता (Uniqueness) का पात्र बनता है। वह अपने आत्म-स्वरूप से भिन्न कुछ और नहीं देखता है। मात्र स्वात्मा को ही वह देखता है। यह साधक खाता-पीता है और वायु का ग्रहण करने पर भी इनके अधीन कभी भी नहीं रहता है। इसे किसी की भी **"फासे"** अर्थात् इच्छा (संस्कृत >स्प्राह कश्मीरी >फास) नहीं रहती है। यह सदा केवल ब्रह्मानन्द के अमृत रस की ही इच्छा करता है क्योंकि ब्रह्म वास्तव में ('रसो वै सः रस एव सः') रस है और भक्त भी निश्चय करके उसी रस की अनुभूति चाहता है। इस दशा को पाकर यह साधक निःशंक होकर ईश्वर की सत्ता से रहित किसी अन्य सत्ता को स्वीकार नहीं करता और न बार-बार जन्म-मरण की चक्की में पड़ता है ॥७॥

टिप्पणी

इस पद्य में भवानी के कथन का अभिप्राय यह है कि परमार्थ-तत्त्व पर पहुँचे हुए साधक केवल भगवद्भक्ति के रस का पान करना ही अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं। ये साधक केवल विचार ही नहीं करते हैं अपितु इन्हें इस तथ्य का पूरा विश्वास होता है कि **"नासीत् कांह्, आसीत् बेंयि"** परंब्रह्म के अतिरिक्त इस ब्रह्माण्ड में अन्य कोई शक्ति न है, न थी, और न भविष्य में ही संभव हो सकती है। अतः वह एक शक्ति ही सब में व्याप्त है और उस शक्ति का अद्वितीय स्वरूप स्वयं अपने में है।

---

१. कासे क, ग पाठ।
२. नासीर क, ग पाठ।
३. आँसीर क, ग पाठ।

द्रायस् तं नेरंवुन् आवंहम्[1] ज़ंगे
चें नं तं कारून् ! मंगे कस्
रंगा रंगी गुल फ्वलिह्य[2] अंगे
मे नं तं बेंयि चेथ् च्यंगे कस् ॥८॥

व्याख्या

मैं (रूप भवानी) जब परमार्थ-मार्ग पर अपार हर्ष से अग्रसर हो रही थी हे प्रभु ! उस समय आपने ही (दाहिनी ओर से) मेरा रास्ता काटा था, अर्थात् आपके ही अपार प्रोत्साहन के फलस्वरूप मैं आपके सन्मार्ग पर उन्मुख हो सकी थी। मैं आप, करुणा-शील भगवान से क्या मांगती ? क्योंकि आपके साक्षात्कार से जिस श्रेय[3] और प्रेय[4] को प्राप्त करने की मेरी अभिलाषा थी, वह तो पहिले ही मुझे प्राप्त हो चुका था। हे प्रभु ! आपके दर्शन से मेरे समस्त शरीर में रोमांच के रूप में विविध रंगों के फूल खिल उठे अथवा तुम्हारे साक्षात्कार से भाव-विभोर होकर मेरे मानस-पटल में अनन्त फूलों की खेती खिल उठी है : इस सौभाग्यपूर्ण दर्शन के उपरान्त मुझ से बढ़कर कौन भाग्यशील हो सकता है ? अतः मेरा रोम-रोम झूम उठा है क्योंकि जब चाही हुई वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तब निश्चय ही अपार मादकता छा जाती है ॥८॥

टिप्पणी

शकुन-शास्त्र की दृष्टि से यदि कोई यात्रा आदि शुभ कार्य पर निकल

१. आयिम्—ग पाठ।
२. फ्वलुहम् ग पाठ, फुलाह—च, पाठ।
४-३. वह कार्य जिसका आरम्भ दुख-कष्ट देने वाला हो परन्तु जिसका अन्त सुखदायी और हितकर है। 'श्रेय' का उल्टा 'प्रेय' है। —सम्पादक

रहा हो तो यदि संयोग से कोई अच्छे लक्षणों से युक्त मनुष्य दाहिनी ओर से उसका रास्ता काटे तो निस्संदेह कार्य की सफलता होती है। यहाँ भवानी के कथन का अभिप्राय यह है कि दैवी-मार्ग पर, उन्मुक्त होकर तथा सारे माया के बन्धनों को तोड़-फोड़कर, मेरा निकलना वास्तव में आपकी की ही प्रेरणा थी।

पद्वी[1] विना मा त्राव पाद
वादा[2] पूरख अदं छुय् वासा
ब्रकुन्[3] नाबदं ग्रकुन् खासिय
परमं पदूय परमानन्द् हांसिल छुय् ॥८॥

व्याख्या

जब तक ब्रह्म की यथार्थता का साक्ष्य नहीं होता है तब तक निरन्तर अपनी साधना में रत रहना चाहिए। अर्थ इस प्रकार से भी हो सकता है :—जब तक स्वात्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता है तब तक निम्न-कोटियों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। जब ज्ञान की चरमावस्था का साक्षात्कार होगा तब निश्चय रूप से तुम्हारा निवास ईश्वर में होगा। इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार से भी संभव है जब तक साधक तर्कों से, सन्देह एवं शंकाओं से मुक्त नहीं होगा तब तक मुक्ति संभव नहीं है। जब साधक तर्कातीत होकर निर्द्वन्द्व हो जाता है तो अवश्य ही उसे परमात्मा का परमपद प्राप्त होता है, जहाँ आस्वादन करने के योग्य मधुर-फल सहज रूप में प्राप्त होते हैं ॥८॥

---

१. पाद ग पाठ।
२. नंरवाद बनख् केवल पिंगलेन् की पांडु प्रति।
३. ग्रकंनी खासी घ पाठ, ब्रकान् नाबाद ग्रकनी खासी परम पद ग पाठ।

टिप्पणी

भवानी अलक्ष्येश्वरी ने इस पद्य में 'वादा' शब्द पर अधिक बल दिया है :—भारतीय-दर्शन शास्त्रों की संख्या छः है। (१) कपिल का सांख्य दर्शन, (२) गौतम का न्याय दर्शन, (३) कणाद का वैशेषिक दर्शन, (४) पतञ्जलि का योगदर्शन ; (५) जैमिनि की पूर्व मीमांसा, (६) व्यास की उत्तर मीमांसा।

कपिल का वाद (Ism) **पुरुष-प्रकृति** प्रधान है, गौतम का वाद **द्रव्य-प्रधान** है, कणाद का वाद—**परमाणु-प्रधान** है, पतञ्जलि का वाद **ईश्वर प्रधान** है, जैमिनि का वाद **कर्म-प्रधान** है और व्यास का वाद **ब्रह्म-प्रधान** है भवानी अलक्ष्येश्वरी के कथन का स्पष्ट अभिप्राय यही है जब वादों की तर्क वितर्कता के उलझनों से ऊपर उठ जाओगे तो अवश्य ही सच्चे ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति होगी।

रुपायि ति यिह् आयिय् वरा
नरा निरालम्बा कुनुय्[1] रूप
कृपा कर आनन्द ज़ान वरा[2]
अवतार रुमं-रुमं रुफ ॥१०॥

व्याख्या

मुझ रूपभवानी का संप्राप्य वर आया है। [वर शब्द में श्लेष है वर पति को भी कहते हैं और योगमार्ग में इसका अर्थ इस प्रकार बनता है—साधक के परमपद की प्राप्ति का वर अथवा वरदान अर्थात् जब साधक यम नियम आदि के द्वारा समाधि के अखण्ड आनन्द का वरण करता है] परन्तु उस वरणीय

---

१. कुनय्—यह पाठ केवल वासुदेव पिंगलेन की पाण्ढुलिपि में मिलता है शेष सब पाण्डुलिपियों में यह शब्द मिलता नहीं है।
२. जानवारा—क, ख, ग पाठ।

नर का कोई रूप नहीं है। वह अद्वितीय वर अकेला ही सब में व्याप्त होने के उपरान्त भी रूप और आकार से रहित है। परन्तु ऐसी भी बात नहीं है कि यह धारणा मिथ्याभास है क्योंकि उसकी अनुकम्पा के फलस्वरूप मुझे अपार आनन्द की प्राप्ति संभव हुई है। यही कारण है कि उस वरणीय ब्रह्म को अपनी अभीष्ट (चाही हुई) वस्तु समझकर मैं उसी में लीन हुई हूँ और प्रत्येक अणु-अणु (Atom) में उसी की अभेदता का साक्षात्कार कर रही हूँ ॥१०॥

टिप्पणी

यदि इस श्लोक की प्रथम पंक्ति के "रुपाय" शब्द को व्यक्ति वाचक संज्ञा न मानें तो अर्थ की स्पष्टि इस प्रकार से होती है :—मैं स्वयं साकार होकर अपने अभीष्ट वर के समक्ष उपस्थित हुई। उस करुणाकर ने अनुग्रह करके मुझे निराकार रूप प्रदान करके, श्रेष्ठ ज्ञान के द्वारा मेरा वरण करके अपार आनन्द की अवस्था में पहुँचा दिया। अब रोम-रोम में उसी का स्वरूप दिखाई दे रहा है।

सु मोंदुर प्यालं[1] तं मोंदुर वासन्
अवैयि क्या सन् मंगं बु तैय्[3]
ग्ज्ञान् रूपं तं शून्या आसन्
आसुन् तं बासुन्[4] सूतिय छुह् ॥११॥

व्याख्या

उस परमपद की अवस्था बहुत ही मीठी है और उसका आभास भी मीठा है। जो कोई उस मार्ग की ओर बढ़ता है वह

---

१. पानं—क, ग पाठ।
२. केवल वासुदेव पिंगलेंन की पाण्डु प्रति में प्राप्त।
३. व्वज—क, ग पाठ।
४. केवल वासुदेव पिंगलेंन की पाण्डुलिपि में प्राप्त।

अवश्य ही उस मीठे प्याले के रस का आस्वादन करता है और उसके जीवन की स्थिति, उस मिठास से सुखमय बन जाती है। इस प्रकार के उत्कर्ष (Exaltation) को प्राप्त करने के उपरान्त उपासक अथवा साधक को मांगने के लिए बाकी ही क्या रहता है ? इस अवस्था में साधक को किसी प्रकार की रिक्तता, (खालीपन अथबा शून्यता) अनुभव नहीं होती है अपितु शून्य भी ज्ञान के प्रवाह से प्रवाहित दिखाई देता है क्योंकि "आसुन् तं बासुन्" अर्थात् जिस परम तत्त्व का अस्तित्व (Absolute being or Reality underlying Phenomenon) सब में विद्यमान है, वह वास्तव में इस साधक को स्पष्ट रूप से दिखायी देता है ॥११॥

टिप्पणी

भवानी अलक्ष्येश्वरी के कथन का अभिप्राय यह है कि साधक इस ब्रह्मानन्द की मधुरता को पाकर शून्यों की परम्परा में कभी नहीं भटकता है। अपितु "शून्य" भी ज्ञान का आधार बनकर ज्ञान रूप में ही दिखाई देता है। क्योंकि इस तत्त्ववेत्ता (Knower of Reality) को **"आसुन् तं बासुन्"** (यत् अस्ति, तत् भासति = What already axists, the same llluminates) अर्थात् प्रकाश और विमर्श अथवा शिव और शक्ति प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देते हैं।

यवय्[१] ध्यान बंरच़र्[२] करे
तंवैय् ग्ज्ञान् आदरे पान्
यवैय प्यार[३] बस्मूय[४] करे
तंवैय् लय सु मारे स्मंरे पान् ॥१२॥

---

१. यवा-तवा—च पाठ, यव तव क, ख, ग पाठ।
२. बक्चिश्—क, ख, ग पाठ (प्रस्तुत पाठ मार्त्तण्ड एवं पिंगलेंन् के पाठ में सुरक्षित है)।
३. प्याल—क, ख, ग पाठ।
४. भरिम् मैकरे—घ, च पाठ।

व्याख्या

साधक का ध्यान जब पूर्णरूप से गंभीरता ग्रहण करेगा तब ही उसके अन्तस्तल में सार्थक और सफल ज्ञान का उदय होगा। भवानी अलक्ष्येश्वरी के कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि शुष्क-ज्ञान के आने से परमार्थ-मार्ग में कोई विशेष आदर प्राप्त नहीं हो सकता है। ध्यान की एकाग्रता के उपरान्त जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अवश्य ही अनन्य प्रेम के कारण उपजता है। उस स्थिति में ज्ञान का उदय केवल वादविवाद का विषय न बन कर प्रेम और प्यार की पीड़ा का कारण बनता है। साधक प्रेम (Subtle love) की उत्कटपीड़ा में पड़कर सारे विषयों और विश्व को भस्म करके केवल अपने प्रेमी के ही ध्यान में डूबा रहता है। फिर उस प्रेमी भगवान के साथ लय होने (अथवा मिलने) के लिए सारे बन्धनों को तोड़ कर आत्मा के अनन्य-स्वरूप में लय हो जाता है ।।१२।।

टिप्पणी

सभ्या-भवानी के इस प्रकार के उपदेशात्मक पद्य वास्तव में उन भक्तों के कण्ठहार हैं जो परमार्थ-मार्ग के अभिलाषी हैं। शिवसूत्रों में कहा भी है :— **"ज्ञानं बन्धः—अज्ञानं बन्धः"**। वह ज्ञान जिसके उपार्जन करने से अपने स्वरूप की यथार्थ स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती है वह संसार में बार-बार बाँधने वाला बनता है। अब रहा "अज्ञान" वह तो स्वयं ही बन्धक है। अतः ज्ञान में समरसता और आत्मस्वरूप की खोज ही मात्र वांच्छनीय है :

युस् तत्त्व[1] त्रांविथ्[2] मूखॅस्[3] लारे
प्रयना प्रेयम् लागे प्रार[4]

---

१. तौख—क, ग, घ पाठ, मार्त्तण्ड और पिंगलेन की पाण्डुलिपि में 'तत्त्व' लिखा है, अर्थ की दृष्टि से तत्त्व अधिक समीचीन ठहरता है।
२. त्रावि—क, ख, ग।
३. मोख—क, ग पाठ।
४. प्रैना प्रम लारे प्रार—क, ख पाठ।

वथरि ग्ञान् तं पान् वोंद्धारे[1]
शून्यस् शून्या सृत्य मिलावे ।।१३।।

व्याख्या

जो साधक पाँच महाभूतों—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश", अथवा पाँच तन्मात्र के तत्त्वों, (Elements)—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध", को त्याग कर बैठता है (अर्थात् इन की नश्वर सत्ता को जानकर, इनके प्रलोभन से निराश होकर उदासीन बनता है) वही सही अर्थों में मोक्ष या मुक्ति के मार्ग को ग्रहण कर सकता हैं। क्योंकि जब तक साधक इनकी सत्ता को सही मानकर मोक्ष की कामना करता है तब तक मोक्ष की प्राप्ति कभी भी संभव नहीं होती है। जब साधक इन पाँच महाभूतों एवं तन्मात्रों को छोड़कर व्यग्र (Alert, Vigilant) होकर अपने प्रिय परंब्रह्म के साथ रागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है और ज्ञान की शय्या (बिस्तर) को बिछाकर उसमें तुरीय की चेतना जगाता है तो अवश्य ही वह अपना उद्धार कर लेता है। फिर आत्मा के परमात्मा के साथ मिलने पर कहने को कुछ भी शेष नहीं रहता है ।।१३।।

टिप्पणी

व्यक्ति, वास्तव में इन्हीं पाँच महाभूतों के कारण पार्थिव कहलाता है। जब तक साधक पार्थिव सत्ता को महत्त्व देता रहेगा तब तक निश्चय ही विनाश की पूजा करता रहेगा, क्योंकि अन्ततः इनसे कोई सार अथवा पारमार्थिक लाभ प्राप्त करने की आशा नहीं है। भवानी के कहने का अभिप्राय यह भी है कि ये महाभूत और तन्मात्र स्वयं अपना उद्धार नहीं कर पाते हैं, अतः मोक्ष की कामना करने से पूर्व साधक को इन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

---

१. तलाडे ख पाठ, तलरे क पाठ।

स्वर[1] र त्रावि तं त्रहा[3] ना मंगे
तीर लाथि तं त्रावे संग
शेरे गंग तं न्येथुय नावे
द्रह पाथि[4] तं अर्ज़ुन् ब्रम् ॥१४॥

व्याख्या

इस परमार्थ-मार्ग का साधक अथवा ज्ञाता (Knower) "स्वर" शब्द के "र" अक्षर का त्याग करके केवल "स्व" (आत्मस्वरूप) पर ही अर्थात् स्वानुभूति (Self Realisation) के मनन-चिन्तन पर ही अधिकांश रूप में निर्भर रहता है और किसी भी प्रकार की तृष्णा के चक्कर में नहीं आता और न कोई इच्छा ही करता है। यह साधक आत्मा-रूपी तीर को परंब्रह्म-रूपी लक्ष्य (Aim) पर छोड़कर इस शरीर-रूपी नश्वर तर्कस (त्रावे संग, संग" शब्द वास्तव में निषङ्ग-(तर्कस) का ही अपभ्रंश रूप है) को त्याग देता है। कथन का तात्पर्य यह है कि इस साधक के लिए इस नश्वर शरीर की सार्थकता और उपयोगिता इतनी ही रहती है कि इस मनुष्य शरीर के सहारे, अपनी वास्तविक स्वानुभूति से, आत्म-स्वरूप का लाभ प्राप्त करता है और फिर इस भौतिक-काया के प्रलोभन से विरक्त हो जाता है। क्योंकि शरीर रूपी तर्कस की सार्थकता तब तक ही रहती है जब तक आत्मा-रूपी तीर उसमें रहता है। जब तीर धनुष की डोर पर चढ़कर लक्ष्य पर छूट जाता है तब शरीर-रूपी तर्कस का प्रलोभन

१. स्वरान्—क, ख, ग पाठ।
२. त्रांविथ्—क, ख, ग पाठ।
३. तिह्रा, तेहना—क, ख पाठ।
४. पाथ्योम्—ख, ङ पाठ।

और उपयोग नहीं रहता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के उपरान्त साधक स्वानुभूति की रसमय गंगा को उत्पन्न करके, उसी अपार रस में नग्न होकर (स्थूल एवं क्षण भंगुर वस्त्रों को त्याग कर) डुबकी लगाकर, आनन्द की क्रीड़ा करता है। अवश्य ही इसके उपरान्त ज्ञान-रूपी सूर्य का उदय होता है और दिन-रूपी परंब्रह्म का प्रकाश फैलकर साधक को आनन्दित करता है ॥१४॥

टिप्पणी

उपर्युक्त पद्य में भवानी अलक्ष्येश्वरी ने तीन प्रकार के प्रतीकों (Symbols) का प्रयोग सफल रूप से किया है—'स्वर', 'तीर', और 'गंगा। अर्थ इस प्रकार भी स्पष्ट हो सकता है 'स्वर' अर्थात् नाद-शक्ति के द्वारा शरीर-रूपी तर्कस में पड़े हुए आतम-स्वरूप-रूपी तीर को निकालकर, साधनारूपी धनुष की डोर पर चढ़ाकर, परंब्रह्म रूपी लक्ष्य पर उसको साधकर, मुक्तात्मा-साधक ऐहिक-बन्धनों से मुक्त होकर अन्ततः रसमय गंगा में डूबकर अपार ज्ञातरूपी अमृत का पान करता है ॥

ग्ज्ञानुक्[1] अंशा आयोम् अथे
गज़[2] सु मोरुम्[3] तवैय् सूत्य
यवं सूत्य ज़न् ठ्यपंदोवुम्
तीय् ठहरोवुम् च़ीतस्[4] सूत्य ॥१५॥

व्याख्या

दैवी अनुग्रह के फलस्वरूप किसी प्रकार अनायास ही ज्ञान-

---

१. शून्याह क पाठ।
२. गंज् क पाठ।
३. स्वम्बरूम् क, ख, ग पाठ।
४. मनस क, ख, ग पाठ।

चेतना का अंश मुझ में जागृत हुआ। मैंने उसी ज्ञान के सहारे यम, नियम, आसन आदि अष्ठाङ्ग योग के द्वारा मद-मस्त हाथी रूपी अपने कृत्रिम अहंकार (False ego) को मारा। जिस ज्ञान की चेतना से मैंने इस प्रकार का युद्ध छेड़कर अपने कृत्रिम-मन, बुद्धि और अहंकार को पराजित किया था, उसी ज्ञान की चेतना से मैं अपने में अपने आत्मस्वरूप को स्थित करके (ठहरा कर) उस से युक्त हो गयी हूँ ॥१५॥

टिप्पणी

'गज' शब्द का प्रयोग दोनों ही दृष्टिकोणों को स्पष्ट करता है, अर्थात् शरीर और मन, बुद्धि, अहंकार। सिद्धाभवानी के कथन का यह अभिप्राय है कि यह शरीर रूपी हाथी अपनी विशालता के कारण परंब्रह्म की सत्ता को नगण्य (Insignificant) समझता था, और मन, बुद्धि और अहंकार के कृत्रिम एवं बनावटी संसार को वास्तविक समझकर इसके मोह में मग्न रहता था परन्तु ज्ञान-चेतना के अंश ने इस मोह-पाश से मुझे मुक्त किया।

ग्वारिथ्[1] समंरिथ् ग्ञाना कोंडुम्[2]
पारुद्द मोरुम् तवैय् सूत्य
पंच्नं अग्ना लाल[3] चडोवुम्
गाश प्रज़लूम् तवैथ सूत्य ॥१६॥

व्याख्या

मैंने गहन-ज्ञान की खोज बड़ी ही तत्परता और सावधानी से की, अर्थात् पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए मैंने निरन्तर

१. ग्वेषित् ख, च पाठ।
२. खांडुम् ग, घ पाठ।
३. प्राण ग, घ, ङ पाठ।

'ग्वांरिथ्'=गवेषणा की और समर्थ बनकर इस ज्ञान के वास्तविक सार को अपने में समेट लिया। इसी विवेकशील ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त, मैंने पारे के समान चंचल मन को एकाग्रता के एवं एक निष्ठता की दशा पर पहुँचाया। [भारतीय वनस्पति विज्ञान (Botony) से इसका अर्थ इस प्रकार से स्पष्ट होता है:—जब रुदन्ती औषधि का रस पारे में मिलाया जाता है तो पारा सोना बन जाता है अपनी चंचलता छोड़कर ठोस, स्थिर, घना और मूल्यवान बनता है] फिर पाँच प्रकार की अग्नि—(१) दक्षणाग्नि, (२) गार्हस्पत्याग्नि, (३) आहवनीयाग्नि, (४) सभ्याग्नि, (५) आवसथ्याग्नि, को जलाकर आहुति के रूप में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को चढ़ाकर भौतिक (Material) बन्धनों से मैं मुक्त हुई और अन्त में उसी अग्नि रूपी गहन तपस्या के फलस्वरूप मुझे वास्तविक ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हुआ ॥१६॥

टिप्पणी

"पारूद् मोरूम् तवैय् सूत्य" इस पंक्ति का स्पष्ट अर्थ शैव-दर्श के अन्तर्गत ही संभव हो सकता है क्योंकि सभ्या-अलक्ष्येश्वरी पर शैव-दर्शन का बहुत प्रभाव था। शैव-दर्शन में मन निन्दा के योग्य नहीं है क्योंकि आत्मा (संवित्) ही अपने अपार स्वरूप से छिपकर, संकोच के कारण "मन" की स्थिति पर आती है। साधक इसी मन के संकोच और मल को उतारकर इसे अपने असली स्वरूप (अर्थात् आत्मा की स्थिति) पर पहुँचाता है। भवानी ने अपनी विमर्श-शक्ति[1] के कारण पारे रूपी मन को स्थिर करके उसे सोने में बदल दिया।

नं कोंरुम्[2] रुतं नं यछं ज़ोनुम्
च़ेंड़्[3] रुतं तस्स्[4] रुत केंह कोंरुम् ना

---

१. प्रतिभिज्ञा द्वारा आत्मस्वरूप पहिचानना, पीछे देखिए।
२. करूमाह—क, ख पाठ।
३. केवल पिंगलेन्द्र की पाण्डु प्रति में ही प्राप्त होता है।
४. केवल मार्तण्ड की पाण्डु प्रति में ही मिलता है।

मूदं मुतुय[1] इहू[2] दीह संदोरुम्
नतं ज़ीवन्तुय्[3] मरहं बु[4] माव् ॥१७॥

व्याख्या

मैंने अपने जीवन की अवधि में कुछ भी भला नहीं किया। कहने का अभिप्राय यह है कि परमार्थ की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार की कठिन तपस्या (व्रत-उपवास इत्यादि के द्वारा शरीर और इन्द्रियों का संयम) आवश्यक थी, मुझसे वह हो नहीं सकी। मैंने अपनी इच्छा-शक्ति को इस कदर श्रेय और प्रेय नहीं बनाया जिससे यह परमार्थ के बिन्दु पर पहुँच कर सत्य-ज्ञान का साक्षात्कार करती। यह भी बात नहीं है कि मैंने तुम्हारे (मध्यम-पुरुष, (Second person) अथवा उसके लिए (अन्य पुरुष) (Third person) कभी कोई हित-कामना की हो। कहने का अभिप्राय यह है मैं अपने चिन्तन और मनन में इस प्रकार खो गयी थी कि मुझे मध्यम-पुरुष और अन्य पुरुष का ध्यान ही नहीं रहा अर्थात् मेरी इस उपासना में इस प्रकार की विश्वचेतना (Universal Consciousness) व्याप्त थी कि मुझे सब स्वरूप एकाकार दिखाई दे रहे थे।

मैंने विस्मृति के आवरण में लिपटे हुए इस शरीर को, आत्म बल के सहारे, (इस पर चढ़ी हुई माया की परत को उठाकर), इसे मौत की दुर्गन्ध से बचाया अर्थात् यह शरीर जो निरन्तर आवागमन

---

१. ग्रेति तोल्य पिंगलेन की पाण्डु प्रति में।
२. केवल पिंगलेन् की पाण्डु प्रति में।
३. जीवन्तु क, ख, ग पाठ।
४. केवल मार्तण्ड और पिंगलेन् की पाण्ड प्रति में।

के चक्कर में पड़ा हुआ था, इसे फाँसी से छुड़ाया क्योंकि मैंने यह नहीं चाहा कि जीते हुए भी इस शरीर की मृत्यु हो ।।१७।।

टिप्पणी

कहने का आशय यह है कि सिद्धाभवानी को इस तथ्य का पूर्ण निश्चय था कि उसके लिए साधना या तपस्या आवश्यक नहीं है तभी तो पहली दो पंक्तियों में वे स्पष्ट कह चुकीं हैं कि मैंने जो कुछ भी साधना की उस में किसी भी प्रकार का मनोरथ या कामता नहीं थी अपितु विश्वचेतना (Universal Consciousness) के अंश रूप में वह स्वाभाविक था । दूसरी दो पंक्तियों में इसे अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहती हैं और सांसरिक प्राणी के लिए उपदेश के रूप में समझाती हैं, कि "जीते जी मैंने इस मरणशील शरीर को और मारना नहीं चाहा"—अर्थात् मनुष्य शरीर धारण करके व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि इस अहंकारी शरीर का उद्धार करना क्योंकि यह स्वभाव से मरणशील है ।

आगर-फीरिथ् तैय् ग्रोजुम्[1]
वोगवाञ्यं डूरुय् सगंवुम् मा
ओरय्[2] क्रेपा तं आलव् बोंरुन्[3]
योडं कैंह ना सोंरुम् मा ।।१८।।

व्याख्या

"अपनी साधना के विषय में संसार के प्राणियों को समझाती हुई भवानी कहती हैं कि यह मत समझना कि मैं अपने उद्धार के लिए तपस्या कर रही हूँ । यह तो वास्तव में हेतु-मात्र है ।"

१. फेरथ् तय् ग्रजुम् क, ख, ग पाठ ।
२. और कि कृपा सूतिय ग पाठ ।
३. आलम् क पाठ ।

मैंने भगवती शारिका के अंश-रूप में अवतार लेने से उपरान्त अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा [पुनः मुड़कर देखना, अनुसन्धान करना, अपने वास्तविक स्वरूप की पहिचान (Re-Cognition) करके अपनी अपार शक्ति के प्रवाह के कारण गर्जना की :— "मैं यह हूँ, यही मैं हूँ।"]

यह नहीं समझना कि मैंने अपने आत्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिए (अथवा अपने उस स्वरूप के दिखावे के लिए) कोई उतावली अथवा प्रदर्शन किया है, क्योंकि मैं यह जानती थी कि मैं क्या हूँ अतः मैंने अपने सही स्वरूप को लक्ष्य करके किसी भी प्रकार इस बात का दम्भ नहीं किया और न जनता में इस बात का प्रदर्शन ही किया। मैंने अपने स्वरूप को अवश्य ही अपने चिन्तन और मनन से सींचा है पर इस में भी मैंने संयम (Restrain) और संगोपन (Secrecy) से व्यवहार किया है। मैंने कभी भी बाढ़ के प्रवाह के समान अपने आत्म-स्वरूप रूपी क्यारी को नहीं सींचा है। सत्य तो यह है कि मेरी साधना ऐहिक-इच्छा (संसार से कुछ पाने की इच्छा) से नहीं अपितु दैवी इच्छा और अनुग्रह से सम्पन्न हुई है जो मेरे अवतीर्ण होने (जन्म) के समय से ही मुझ में संलग्न थी। अर्थात् मेरी इस साधना में स्वयं भगवती शारिका का ही अंश रूप प्रेरक है। इस विचार को कभी भी मन में मत लाना कि इस देह से मैंने कुछ किया है क्योंकि करने के लिए मेरे लिए किसी भी प्रकार की कमी नहीं थी। फिर मैं किसका स्मरण करती और किस प्रकार की साधना ही करती ? ॥१८॥

टिप्पणी

इस छन्द में भगवती रूपभवानी ने अपने अवतार-स्वरूप की कथा तथा प्रादुर्भाव को स्पष्टरूप में प्रकट किया है। ध्यान देने के योग्य पंक्ति है **"वोगंवाञ्यं डूरुय सगंवुम् मा"** (वेगपूर्ण पानी से मैंने क्यारी नहीं

सींचीं)। जिसके पास जिस प्रकार की शक्ति होती है वह अवश्य उसका दिखावा अथवा प्रदर्शन करता है जो कि स्वाभाविक भी है। परन्तु भवानी रूपदिद्दा ने अपने पास अपार शक्ति-प्रवाह होने पर भी संयम से जगत के व्यवहार किए। इसी तथ्य को भवानी ने दृष्टान्त देकर किस प्रकार सरल शैली में प्रकट किया है, **"बोगंवाञ्यं डूरुय सगंवुस् मा"** अर्थात् मेरी महान शक्तियों ने मुझको उस प्रकार नहीं सींचा जिस प्रकार अचानक वेग से बहने वाला पानी क्यारी को लबालब कर देता है, अर्थात् तेज पानी की धारा से पौधे उखड़ जाते हैं और एक बारगी क्यारी डूब जाती है। इस प्रकार का अचानक वेग से आने वाला पानी शीघ्र रुक भी जाता है और फिर क्यारी सूख जाती है परन्तु पानी की धीमी चाल की निरन्तर सिंचाई से एक तो पौधे रस का पान धीरे-धीरे करते हैं और क्यारी भी डूबती नहीं, जिससे सरसता स्थायी रूप से बनी रहती है।

प्रबा तीॖजय् वन्दि[1] आदॖरुम्[2]
रूम रूम जोथ् तरूम् हा[3]
क्रष्णरूपंब्रेम्[4] स्वरिथ्
स्मरिथ् वेंष्णु महेश्वरा ॥१६॥

व्याख्या

कृष्ण रूपी ब्रह्म का सतत् ध्यान करके तथा विष्णु और शंकर का इसी ब्रह्मस्वरूप में मनन-चिन्तन करके एक अलौकिक प्रकाश का आविर्भाव मुझ में प्रविष्ट हुआ, जिसके फलस्वरूप मेरे शरीर के प्रत्येक रोम-रोम में वह अभिन्न ब्रह्म-ज्योति छा गयी और मेरा हृदय उससे प्रशान्त हो गया ॥१६॥

---

१. ह्लौंदि पिंगलेन पाण्डु प्रति।
२. समार्दरुम् मार्तण्ड पाण्डु प्रति।
३. तकूमाव क, ख, ग पाठ।
४. ब्रह्मा क, ख, घ पाठ।

टिप्पणी

भवानी अलक्ष्येश्वरी के कथन का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा, विष्णु, और शिव इन तीनों कारणों को अखण्ड कृष्ण-रूपी ब्रह्म-स्वरूप में एकाकार करके अद्वितीय साधना के द्वारा जो-ब्रह्म-प्रकाश उत्पन्न हुआ, उस अलौकिक चमत्कार से मैं झूम उठी।

ग्वरं मोखु व्याना दारे
चरणा ह्रेदय् कमल
तुल[1] पवनं मूल शून्या[2]
ऊंर्द् मोंखी गगन मण्डल ॥२०॥

व्याख्या

अपने आराध्य गुरु-मुख से दीक्षा लेने के उपरान्त साधक को उसका अनुसरण करना चाहिए। जिस प्रकार से भी गुरु से ध्यान-समाधि आदि का उपदेश दिया हो, उसी प्रकार साधना का क्रम होना चाहिए। उस गुरु-चरण को हृदय कमल में धारण करके, अपने सन्नियमित (Controlled) श्वास-प्रश्वास के पवन को मूलाधार (लिङ्ग स्थान) से जागृत कराके, कण्ठ (गले) के ऊपर भ्रूमध्य (भौंहों के बीच) के द्वार से सहस्रार के अखण्ड आनन्द में लीन होना चाहिए। यही साधक की सिद्धि का रहस्य है ॥ २० ॥

टिप्पणी

'तुल पवन् मूल शून्या' इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार से भी स्पष्ट होता है—मूलाधार (गुदा और लिङ्ग के बीच का स्थान) से आकार हीन प्राणवायु को उभारकर नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु और भ्रूमध्य से होते हुए

---

१. तुल मूल पवन् ग पाठ।
२. मूल शून्याह ख पाठ।

सहस्रार की तरफ ले जाना चाहिए। ब्रह्मरन्ध्र ही "गगन-मण्डल" है जहाँ उसके पहुँचने पर व्यक्ति की इकाई समाप्त हो जाती है ॥

नाना रंग शाख च़तुर वीद्
पानूय्[1] मान् तं नद् सगंवान्
नाना प्रकारं ध्यानुक् थाना
ग्ञाना नामा अनीक दनं थाना
पूरक् मनैय् स्मरे[2] निराकार ॥२१॥

व्याख्या

ज्ञान का स्वरूप अनन्त है, यही कारण है कि वेदों ने अपनी चार शाखाओं में उसी अखण्ड सत्य की परिभाषा भिन्न-भिन्न रूपों में की है, यद्यपि तात्त्विक स्वरूप में ज्ञान एक ही है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न समुद्रों का ही जल गर्म होकर भाप में बदलकर वर्षा, बर्फ, ओले आदि के रूप में बरसकर भिन्न-भिन्न नदियों के रूप में बहकर पुनः अपने स्वरूप में (सागर में) विलीन होता है, उसी प्रकार ज्ञान भी विभिन्न वेदों में विभिन्न स्वरूप धारण करके अन्ततः एक ही अखण्ड आनन्द स्वरूप का विशद वर्णन है। यही स्थिति स्थूल-ध्यान (साकार-ध्यान) में भी व्यापक है क्योंकि कोई विष्णु, कोई शिव, और कोई शक्ति आदि का ध्यान धारण करके परमार्थ मार्ग में आगे बढ़ता है, परंतु अन्त में ये सब ध्यान एक ही व्यापक स्वरूप में विलय होते हैं। जिस प्रकार इस जगत में किसी के पास सोने के रूप में धन होता है, किसी के पास हीरे-जवाहरों के रूप में और किसी के पास जमीन के रूप में, परन्तु स्पष्ट दृष्टि से देखें तो मूल में सब के पास धन ही है।

---

१. पानं—मान च, मानं ग, घ पाठ।
२. स्मरे वानी ख, ग पाठ।

इसी प्रकार ज्ञानामार्ग में अनेक रास्ते हैं और अनन्त पगडण्डियाँ हैं परन्तु निर्धारित यात्रा का लक्ष्य एक ही है। इस वैविध्य के उपरान्त भी समरसता का ज्ञान और इसकी प्राप्ति साधक को अपने ही आकार हीन स्वरूप में प्राप्त होती है ॥२१॥

टिप्पणी

इस छन्द में भवानी ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि ज्ञान की अनन्त शाखाएँ वास्तव में इस जगत के वैविध्य के अनुकूल ही हैं। परन्तु जब आत्मस्वरूप का लाभ साधक को हो जाता है तब ये भेद, यह द्वैत और माया मिट जाती है और स्वयं ही अपना स्वरूप प्रकट हो जाता है।

सॉरिथ गटॅ त्रॉविथ गाशस् चायस्
मॉरिथ सारि इमं चानि पाछ्ं यन्दैय्
तवैय् सहज़ंकलि सूत्यं यूगं सॉदिथ
सर्ववादं ज़ोनुम् ग्ञानं पानस् ह्युवं[1] ॥२२॥

व्याख्या

मैं माया और ममत्व के प्रगाढ़ अन्धकार में संभल-संभल कर प्रकाश की खोज करती रही और अन्ततः यह माया-रूपी अन्धकार का पर्दा हट गया और मैं उस प्रकाश में आगे बढ़ी। प्रकाश की प्रतिभा (Intellect) प्राप्त करने के उपरान्त इन पाँच तन्मात्रों—शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध को, मैंने मार भगाया। तन्मात्रों के शासन के उपरान्त, मुझे स्वाभाविक योगावस्था का आभास हुआ और धीरे-धीरे मैं कलना रहित अर्थात् निष्कल (योग की वह अवस्था जहाँ साधक को कुछ भी नहीं करना पड़ता है) होकर सहजावस्था पर पहुँची। इसके उपरान्त मैंने षड्-दर्शनों

---

१. ह्युव ग पाठ।
२. आणवमल, मायामल तथा कार्ममल, इन तीनों से ऊपर जो अवस्था हैं।

के वादों (Isms) में, (अर्थात् सांख्य-दर्शन, न्याय-दर्शन, वैशेषिक-दर्शन, योग-दर्शन, पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा में) उसी अद्वितीय परंब्रह्म का साक्षात्कार किया। फिर मुझे अपने और परंब्रह्म के अस्तित्व में कोई भिन्नता नहीं दिखायी पड़ी अपितु अपने स्वरूप में उसे और उसके स्वरूप में मुझे अपना साक्षात्कार हुआ ॥ २२ ॥

टिप्पणी

'सर्ववाद ज्ञोनुम्'—यह पंक्ति इस तथ्य का प्रमाण है कि भगवती अलक्ष्येश्वरी ने अपना मनन-चिन्तन और अपनी साधना छः दर्शनों के अनुकूल की थी और इस साधना में उन्हें **"सहजावस्था"** (जो शैव-दर्शन में सबसे महान और उत्तम अवस्था समझी जाती है।) का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ था। इस अवस्था में पहुँच कर ज्ञान और अपनापन दोनों भिन्न न होकर एक ही स्वरूप में दिखाई देते हैं।

दरनी[1] प्रांवूम् तं स्वरने पेयस्
हरा[2] वौंज्य् चूय् बर् वुसंरुम्
दिम् प्रकोसुम्[3] त्वरिता आसुम्[4] चूय
आर्श करुंथम् तैय् खास बरुम् ॥२३॥

व्याख्या

इस पार्थिव (पृथ्वी का बना हुआ) शरीर का जन्म होते ही मैं अपने यथार्थ स्वरूप (अर्थात् अपने आतम-स्वरूप) के चिन्तन

---

१. प्रेथ्वी मार्त्तण्ड पांण्डु लिपि, ग, घ पाठ।
२. हरा तिय् चय् बर् वमुम् च, पाठ।
३. कोसुम् क, ख, ग पाठ।
४. ज़रिता क, च पाठ, जरेत आसुय च्यय ग पाठ।
५. आस् क, ख, ग, घ पाठ।

और स्मरण में ध्यानमग्न हुई। हे शंकर ! अब तू ही दयालु बन-कर मुक्ति मार्ग के द्वार को शीघ्रता से खोल और अपने सच्चिदानन्द प्रकाश से मुझे शीघ्र प्रकाशित करके अपने प्रकाश में लीन करो; क्योंकि हे प्रभु ! मैंने तुम्हारे स्वरूप में और अपने स्वरूप में आशा का संचार किया है, अतः अब तुम मुझे अपने स्वरूप में लीन करो ॥ २३ ॥

टिप्पणी

उपर्युक्त पद्य में भक्ति और याचना की अनन्य पीड़ा और प्रतीक्षा है। वास्तव में साधक लौकिक संसार और समाधि में भेद के फलस्वरूप कभी-कभी खीझ उठता है और ऐसे समय में उसकी भावुकता और कसक पुकार बनकर कराह उठती है **'हरा बोंज्य च़ूय बरं बुसंरुम्'** हे शिव-शंकर ! अब तुम ही इस अभेदता का द्वार खोलो, जिससे मेरी अन्तः र्बाहि की भटकन मिट जाये। इसी प्रकार के आनन्द-विलाप उत्पलदेव ने अपनी उत्पल स्तोत्रावली में अभिव्यक्त किये हैं। इसको 'आनन्द की अवस्था' नाम से जाना जाता है ॥

सहज़ं सिपर पूरिथ[१] द्रायस्
दितिंनम् सहज़ं[२] पर् शांही तं शाह
हिश् छेंस् सहजस्[३] लांगिथ बांह् ज़न्
ह्योतं[४] ज़न् तोतन् तं हारि गिन्दुन्[५] ॥२४॥

---

१. पैरिथ् च पाठ, पारिथ् क, ग पाठ।
२. सहज़-पर् मार्तण्ड-पाण्डु लिपि।
३. सहज़न् लांगिथ् बूहज़न् क पाठ।
४. ह्यति क पाठ।
५ गिन्दुम् ग पाठ, गिन्दूमस् घ पाठ।
६. कश्मीरी में संस्कृत/श/प्रायः/ह/में बदलता है। जैसे संस्क०/शाक/कश्म०/हाखं/ वै० संस्कृ०/शून/कश्म०/हून/हिन्दी/कुत्ता/

व्याख्या

मैं परमार्थ मार्ग में सहज समाधि का भाला लेकर निकल पड़ी। इस साहस के कारण ही ईश्वर ने अनुग्रह करके मुझे सहज-समाधि के पंख प्रदान किये। अत: स्वाभाविक अन्त:-ज्ञान के पंखों को प्राप्त करने के फलस्वरूप अब मैं राजाओं में चक्रवर्ती बन उठी हूँ अर्थात् राजा-महाराजा हाथी-घोड़े आदि वाहनों पर चढ़कर इधर-उधर घूमने निकलते हैं परन्तु मेरा वाहन उनसे कहीं अधिक श्रेष्ठ है। राजा को वाहन (सवारी) के अधीन रहना पड़ता है, परन्तु मुझे ईश्वर ने स्वाभाविक (Natural) दो पंख देकर मेरी गति जल, स्थल और आकाश में सरल बना दी है। इस सहज समाधि के निरन्तर प्रवाह के कारण मैं इसकी छाया में वास करती हूँ अथवा मैं वास्तव में सहज समाधि की अखण्ड ज्योति में ध्यानस्थ होकर मस्त रहती हूँ। और मुझे ऐसा आभास हो रहा है जैसे परमात्मा रूपी शुक (तोता) आत्मा रूपी सारिका (मैना) के साथ खेल रहा है ॥ २४ ॥

टिप्पणी

अन्तिम पंक्ति में शाक्त-दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। शुक (तोता) बोध-ज्ञान का प्रतीक समझा जाता है। जब प्रमाता (Subject) अर्थात् सारिका (मैना) के साथ विलय होता है तब इस अवस्था को शाक्त-दर्शन में यामल-अवस्था कहते हैं। अर्थात् तोता शिव का प्रतीक है और सारिका (संस्कृत-शारिका, कश्मीरी-हारिका +हारका+हांर) अथवा मैना शक्ति की प्रतीक है। इसी मेल को अर्द्धनारीश्वर का स्वरूप कहते हैं। सभ्या-भवानी को अहंपरामर्श (Self-realisation) में अपने चिद्-विलास से युक्त अपनी शक्ति का स्पष्ट आभास अनुभव हो रहा है।

पूरिथ् सहज़ सिपर तैय्
तोरंगस् आसीना[1] लोग रव्
पोशनूल[2] तैय् वीना वज़े
करन् शंख सदा[3] तैय्
गंटा वायान् क्रैयनद् वुज़े[4]
दिवान् छेंस् शंकरस् गोडं ॥२५॥

व्याख्या

सहज-समाधि (Natural trance or outo-trance) रूपी भाले को सान पर चढ़ाकर, श्वास-प्रश्वास रूपी घोड़े पर बैठकर अब ब्रह्मरन्ध्र की गूँज सुनाई पड़ने लगी है। पुष्प-उन्मीलन (प्रभात-पक्षी Oriole) वीणा के वर से मधुरतम झंकार देने लगा है [पोशनूल पक्षी ब्राह्म-मुहूर्त्त में मीठी तान में गाता है। कहा जाता है, यह पक्षी अपने मीठे स्वर से फूलों को रात की नींद से जगाता है। इसकी स्वर-लहरी "श्रीकृष्ण-गोंपियों" के गान की तरह गुँजार देती है।] ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो पूजा के निमित्त शंख-ध्वनि (आवाज़) गूँजने लगी है। इसके साथ-साथ ही क्रिया-रूपी बहने वाली नदी के समान घंटे का स्वर भी गूँज उठा है। मैं इस प्रकार सूक्ष्म-रूप की पूजा से, शंकर का अभिषेक कर रही हूँ ॥ २५ ॥

---

१. जीना क, ग, घ पाठ।

२. पोशनूलन् क, ख, ग पाठ ; [संस्कृ० पुष्प उन्मीलन (पुष्पों को जगाने वाला प्रभात के समय चहकने वाला पक्षी, कश्म० पोशनूल]

३. शब्द क, ग, घ, घ पाठ [संस्कृ० शब्द; प्राकृत-सद्दा, कश्म० सदा]

४. बुज़े—क, ख, च, पाठ।

५. हिन्दी में उसे **पीलक** कहते हैं। भारत सरकार ने उसके चित्र के सहित एक ५० पै० का डाक टिकिट १९७५ में जारी किया है। —**सम्पादक**

टिप्पणी

यहाँ आत्मा ही मानो पुष्प-उन्मीलन पक्षी के समान सचेत (जागरूक) होकर अखण्ड-आनन्द की फुलवारी के प्रसुप्त (माया की नींद से) फूलों को अपनी, ब्रह्मरन्ध्र-रूपी, वीणा के मधुरतम स्वरों से जगाकर अपार आनन्द समस्त संसार के हित के लिए प्रस्तुत कर रहा है। इस अवस्था में क्रियाशील नदी अपने जल के उद्‌गम से घण्टे का स्वर दे रही है अर्थात् चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया एक ही प्रवाहमान समरसता में ओतप्रोत दिखायी दे रहे हैं। इस प्रकार से "शम्"=कल्याण, कर=करने वाले उस ब्रह्म-स्वरूप (शंकर) को अपने आत्म-रस से मैं सींच रही हूँ ।।

हाला[1] मेलि[2] तैय् ज़ाल निवारे[3]
प्राण लाडे मारे मीन
रूग गालि तैय् यूग संदारे
बूग आंहारि करे शरीर ।।२६।।

व्याख्या

ऐसी अवस्था में साधक चिद्-रस रूपी हाला (शराब) की मस्ती में लवलीन होकर आनन्द मग्न हो रहा है और आत्मा के साक्षात्कार होने के उपरान्त मनरूपी मछली की चंचलता से सदा के लिए मुक्ति पाता है। आवागमन-रूपी रोग का शमन करके 'योग' (अप्राप्त की प्राप्ति के) अग्नि में तप कर ब्रह्म का साक्षात्कार पाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के उपरान्त यदि यह भोगो का आहार करता भी है तो दास बनकर नहीं ; अपितु स्वामी बनकर उनका आहार करता है। कहने का आशय

१. हाल् क, ग, घ, च पाठ।
२. मलि क, ख, घ, ङ पाठ।
३. वहारे क, ख, ग पाठ।

यह है कि भोग इसे अपनी पकड़ में नहीं ला सकते और न अपना दास ही बना सकते हैं ।। २६ ।।

टिप्पणी

यहाँ संकेत राजा जनक से है जिन्हें 'विदेहराज' भी कहते हैं। वे भोगों का भोग करने के उपरान्त भी भोगों के अधीन नहीं थे ; संसार में रहकर भी संसार से अलग-थलग थे ।।

सूर गौव् सु फंलि अंग् मेलन्
अंग संवारे बंग् निवारे
इह् नं फ्वले तिह् वले
जन्तर् तन्तर् अनाहत् अनामय अक्षय ॥२७॥

व्याख्या

साधक परम सत्ता के प्राप्त करने के लिए बहिः रंग (बाहिरी) शरीर को भस्म करके वास्तविक आत्मा को पूर्णतः जानकर और व्यर्थ (फिजूल) की इच्छा आदि के क्षणिक विषयों को पूरी तरह समाप्त कर देता है। वह आत्मा के रस में सदा डूबा रहता है। ऐसा साधक नश्वर वस्तुओं के अनुराग को छोड़-कर टिकाऊ और नित्य आत्मा का वरण (मिलाप) करता है। यह साधक अपनी क्रिया को यन्त्र की तरह केवल भगवत् एकाग्रता में लगाता है। फिर ज्ञान के तंत्र से इस एकाग्रता को सही और ठोक-ठोक कर पुष्ट बनाता है। इसके उपरान्त अपनी इच्छा को भगवान की अपार इच्छा मानकर उसी के स्मरण और मनन में डूबा रहता है। अतः समस्त चराचर को उसी का अंश मानकर अपनी इच्छा और वासना से कभी भी परेशान नहीं होता। जब मन की भटकन पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाती है तब आनन्द

की अवस्था में वह साधक मग्न और मस्त रहता है। इसके उपरान्त साधक 'चित्' का दर्शन करता है जिसके प्राप्त होने के बाद कभी भी माया मोह की भटकन नहीं सताती और साधक स्वयं भगवान का स्वरूप बन जाता है ॥२७॥

टिप्पणी

भगवान् की पाँच अपार-शक्तियाँ हैं जिन्हें क्रमशः चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहते हैं। भगवान् अपने स्वरूप को अर्थात् चिद्-शक्ति को भुलाए बिना अपनी इन शक्तियों से विश्व व्यवहार करता है परन्तु सभ्या भवानी ने यहाँ साधक के लिए क्रिया-शक्ति को आधार मानकर चिद्-शक्ति को जानने का क्रम बताया है जो सही भी है क्योंकि जीव चिद्-शक्ति की अपारता के कारण उसे स्पष्ट रूप में समझ नहीं सकता अर्थात् "मैं ही शिव हूँ" के वास्तविक स्वरूप को पकड़ नहीं पाता है परंतु क्रिया-शक्ति की सीढ़ियों के सहारे ज्ञान, इच्छा और आनन्द को परख कर अन्ततः साधक आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

सावदान खेले अंग नचावान् रोज़े
अंग प्रज़लान् थेर वासन् दारान्
अटल सावधान वह आप भगवान
बु शेवगथ् तैय् चुह शिव पान् ॥२८॥

व्याख्या

इस प्रकार का साधक संसार में रहकर भी बड़ी सावधानी से अपने वास्तविक स्वरूप को भुलाए बिना विहार करता है अर्थात् आत्म स्वरूप को प्राप्त करके भी साधारण मनुष्यों के समान व्यवहार करता है। अथवा, इस संसार रूपी रंगमंच (Stage) पर यह साधक सफलता से अभिनय करता है परन्तु

वह अपनी सत्ता को कभी भी भूलता नहीं, अर्थात् अपने आत्म-स्वरूप से कभी भी दूर नहीं होता, अपितु अन्तरात्मा की ज्योति को प्रज्ज्वलित करके दृढ़ता से आत्म-रस में निवास करता है। यही कारण है कि यह साधक जागरूक बनकर स्वयं भगवान का अभिन्न-रूप बनता है। ऐसी अवस्था में यह साधक अपने स्वरूप में ही शक्ति बनकर शिव के हृदय में निवास करता है ॥२८॥

टिप्पणी

इस पद्य में उत्कृष्ट अवस्था का उद्घोष (Declaration) है। साधक किसी दिखावे के बिना स्वयं शक्ति-प्रवाह (Flow of energy) बनकर शिव-रूप में निवास करता है।

वर दीॖयि तं बॖ नेरय् वासा[1]
बॖमि पाद गमे[2] रसा रसा
खसान् तं शब्द शुनुम आंहंग
सारंग राग वीणा तं चेंग ॥२९॥

व्याख्या

सही तत्त्व को जानने वाले साधक की अवस्था अन्तः बहिः (भीतर बाहर) एक समान रहती है। आत्म स्वरूप का साक्षात्कार करने के उपरान्त भी यह साधक साधारण रूप का व्यवहार करता है। पृथ्वी तत्त्व पर रहकर भी अर्थात् साधारण प्राणियों के समान व्यवहार करके भी, अपनी रसात्मक अनुभूति में सदा

---

१. वर्यवासा घ पाठ।
२. पाद गंबा रसा घ पाठ।

ही ओतप्रोत रहता है। इस साधक की साँसों के उतार और चढ़ाव में भगवत्-प्रेम की सारंगी और वीणा के आरोह और अवरोह को मदमस्त करने वाली ध्वनि निरन्तर गूँजती रहती है। कहने का आशय यह है कि यह साधक सदा ही भगवान के व्यापक प्रेम से पूर्ण, उसी के ध्यान में डूबा रहता है ॥२९॥

टिप्पणी

इस तत्त्ववेत्ता साधक का ध्यान एक क्षण के लिए भी भटकता नहीं क्योंकि प्रत्येक साँस के उतार-चढ़ाव में उसी अनन्य प्रिय भगवान का नाद-ब्रह्म गुञ्जार देता रहता है, जिसके फलस्वरूप सारङ्गी की ध्वनि और वीणा की तान सी निरन्तर गूँजती रहती है ॥

युसुय् सहाय सुय् पानं आसान्
अंथवासा[1] शिवस्[2] तं शून्या कस्
युस् वेंह्[3] गाले तेंह् नेंवारे
सुय् शरीर थावे पानस् ब्रांह ॥३०॥

व्याख्या

साधक को परमार्थ-मार्ग में जो (आत्म ज्ञान) सहायक बनकर ज्ञान और प्रकाश प्रदान करता है वह वास्तव में पूर्वतः ही (पहले ही) उसमें (साधक में) ओतप्रोत रहता है। कहने का आशय यह है जो आत्म स्वरूप स्वयं में सहायक बनकर परमार्थ-का उन्मेष करता है वह वास्तव में पहले से ही साधक के शरीर

१. अथ्वासनि, वासञ् क, ख, ग पाठ।
२. शिव क, ख, घ पाठ।
३. व्यह् क, ख, ग, घ पाठ।

में विद्यमान होता है। अतः जो ब्रह्म सहायक बनकर साधक को परमधाम पर पहुँचाता है वह वास्तव में साधक की अंश रूप आत्मा से भिन्न नहीं है, अपितु उसी का स्वरूप है। साधक केवल अपने विमर्श (प्रत्याभिज्ञा=recognition द्वारा) के बल से और निरन्तर अभ्यास और चिन्तन-मनन से उस तात्त्विक (सही) स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है जिसके फलस्वरूप साधक का पुनः शिवत्व के साथ पाणिग्रहण (ऐक्य) होता है, अर्थात् साधक शिव के अभिन्न स्वरूप में विलीन हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति होने के उपरान्त शून्यावस्था का प्रश्न ही नहीं उपजता क्योंकि शून्य वास्तव में अभाव है जबकि इस अवस्था का साधक अपने आत्म स्वरूप को लक्ष्य (aim) करके धीरे-धीरे अपने से अभिन्न शिवत्व (Supremehood) को प्राप्त करता है।

इसके अतिरिक्त जो ईर्ष्या-द्वेष रूपी विष (ज़हर) को नष्ट कर देता है और अपने कृत्रिम (नकली) अहंकार से छूट जाता है तथा इस नश्वर शरीर की मोह-माया को पहचानकर इसकी (शरीर की) ममता से विलग हो जाता है, वही साधक मुक्ति को प्राप्त करता है ॥३०॥

टिप्पणी

इस पद्य में सभ्या-भवानी ने जो विशेष उल्लेखनीय बात कही है वह यह है "कश्मीर के शैव दर्शन में जीव वास्तव में शिव ही है परन्तु माया के भटकाव के कारण उसका यथार्थ स्वरूप छिपा रहता है। जब जीव 'विमर्श' के बल से पृथ्वी तत्त्व को छोड़ कर (और शुद्ध विद्या तत्त्व के नीचे तक के सारे तत्त्वों का 'ग्रास' करके) ईश्वर तत्त्व पर पहुँच जाता है तो इस साधक को अहन्ता (शिव) और इदन्ता (जगत) तराजू के दो समान पलड़ों की तरह दिखायी देते हैं। इस अलौकिक व्यापार से निश्चय ही साधक शिवत्व को प्राप्त करके शिव ही बन जाता है। यही अर्थ 'अंथवासा शिवस् तं' का है।"

पर्[१] वंहारे सार्था[२] तारे
दुयी वेंह[३] गाले आसे तस्
ज्ञांनी दर्शन दिथि यखलासे
तुलि[४] पान पानैय् कल्पन् कासे ॥३१॥

व्याख्या

इस अवस्था को प्राप्त स्थितप्रज्ञ (स्थिर बुद्धि वाला) साधक ज्ञानरूपी पंखों को फैलाकर सार-वस्तु को ग्रहण करके इस संसार रूपी सागर के पार हो जाता है। "तत्त्वमसि" (वह परंब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है) स्वरूप को जानकर यह साधक (ज़हरीली दुविधा अर्थात् "यह मैं हूँ यह वह है" इस प्रकार के अपने-पराये के भेद को पार करके अभेद-आनन्द में विहार करता है। इस अवस्था के साधक को ब्रह्म का साक्षात्कार कण-कण (ज़रे ज़रे) में होता है वह अपने आत्मबल से स्वयं खड़ा होकर अपने को कल्पों की पीड़ा (अर्थात् अनन्त जन्म-मरणों के आवागमन की पीड़ा से मुक्त करता है।

टिप्पणी

भवानी के कथन का अभिप्राय स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने उद्धार के लिए स्वयं अपने आप को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर ला कर, आत्म-स्वरूप के सतत् चिन्तन-मनन से, ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। तभी तो आवागमन का चक्र टूटता है। उस स्थिति में इस उपासक को समस्त ब्रह्माण्ड में ब्रह्म ही दिखाई देता है॥

---

१. परवारि क, ख, ग पाठ।
२. साथा ग पाठ।
३. ब्वह क पाठ।
४. तस् क, ग, घ पाठ।

नाव् तारा वाव् सवारा
ना रंग ना वरण तं नं गुथ़्र
ब्रोंह अन् अन्तर[1] पतं करि वारय्[2]
कंहून्दं[3] दारि तं कस दारे ॥३२॥

व्याख्या

प्रथम दो पंक्तियों में श्लेष (एक शब्द के दो अर्थ) है अतः इसके अलग-अलग अर्थ हैं।

जिस नौका पर बैठकर हमें पार होना है उस पर वायु सवार होकर बैठा है। वायु जब तक नौका पर हावी रहेगा तब तक नदी के दूसरे किनारे पर जाना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है। यदि साहस बटोरकर पार जाने की हिम्मत भी करें तो भी मँझदार में डूबने का खतरा बना रहता है। अतः जब तक यह हवा रूपी सवार इस नौका पर बैठा है पार होने का प्रयत्न करना खतरे से खाली नहीं है। इस वायु रूपी सवार को वश में करना पड़ेगा। परन्तु इसे वश में कैसे करें? क्योंकि इस वायु रूपी सवार का न तो कोई रंग है, न कोई वर्ण है और न इसका कोई गोत्र ही है। अतः इस प्रकार के सवार को वश में करना बड़ा ही कठिन है।

इस मनुष्य शरीर में नव द्वार हैं (दो आँखें, दो कान, दो नकुए (नाक के), एक मुख, मल एवं मूत्र द्वार)। इन नवों द्वारों पर प्राणवायु (श्वास) का स्वाभाविक शासन है। जिस प्रकार सवार घोड़े पर चढ़कर उसे अपनी इच्छा के अनुसार घुमाता

---

१. न्यन्दय् क पाठ।
२. वारिथ् घ पाठ।
३. क-हन्दूय दार-तं कस् चारे क पाठ।

चलाता है, ठीक उसी प्रकार प्राण शक्ति इन सब द्वारों को घुमाती चलाती है। परन्तु यह प्राणशक्ति रूपी सवार बड़ा ही विचित्र है क्योंकि न तो इसका रूप है, न रंग है, और न इसके गोत्र के बारे में कुछ पता है अत: इसको जान लेना बड़ा ही कठिन है।

अन्तत: सम्या भवानी इस अनाम और अवर्ण सवार को जानने का उपाय बताती हुई स्पष्ट करती हैं "इस बाहिर छूटते हुए प्राणवायु को अभ्यास आदि के द्वारा पकड़कर (वश में करके) अन्तर हृदय में बिठाओ अर्थात् प्राणायाम के द्वारा अपने प्राणवायु को मूलाधार से जगाकर स्वाधिष्टान, मणिपुर अनाहत विशुद्धि और आज्ञाचक्र तक लेकर इसे सहस्रार में बिठाना (स्थित करना) चाहिए। इसके उपरान्त जीव अथवा साधक संसार के लेन देन क्रिय-विक्रय और जन्म-मरण से छूटकर मुक्त हो जाता है ॥३२॥

दियि असि ति तारा वीड़ औतारे
यसुड़ गारान् सुअ् सूतीयं छुह्
ब्रोंह् ब्रोंह् पकित्[1] द्वैयूहा[2] लोसे
नेथूय पोशि तं सुय् छुय् साथ ॥३३॥

व्याख्या

अवश्य ही परमात्मा परम कृपालु बनकर मुझ (रूप-भवानी) स्त्री-अवतार को इस भव-सागर से पार उतारेगा। यद्यपि यह मेरी भावुक-इच्छा है परन्तु जिसे मैं खोज रही हूँ वह परमात्मा वास्तव में मुझ में ही समाया है। हाँ, ज्यों ज्यों भेद अथवा द्वैत (Duality)

---

१. पकि तं क, ग, घ पाठ।
२. द्वह् मावलोसे क, ख, ग, च पाठ।

का मल (गन्दगी) धुलता जाएगा और जो (ब्रह्म) सर्वदा साथ रहता है वही उन्मुक्त होकर सामने प्रत्यक्ष होगा। अर्थात् आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होगा ।।३३।।

टिप्पणी

उपर्युक्त श्लोक में भावना (Emotion) और यथार्थ (Reality) दोनों का सम्मिश्रण है। भावनात्मक उपासना में परमसिद्धा भावुक बनकर (अपने सीमित स्त्रीत्व के प्रति सचेत होकर) याचना करतीं हैं कि किसी प्रकार से मेरा भी इस भवसागर से परित्राण हो जाए। परंतु यथार्थता का विश्वास होने के उपरान्त वे स्वयं अनुभव कर रहीं हैं कि जिसे मैं खोज रही हूँ अथवा जिससे मैं याचना कर रही हूँ वह तो मेरे साथ ही संलग्न है, केवल परामर्श के बल से इस (माया से उत्पन्न) अज्ञान को दूर करके ही उसका साक्षात्कार करना है।

यिथिस् वावस् थोरं मा खोरे
मुच़ रोजि तं क्याह् छुस ज़ाफ
चेंथ[1] बंगंरिथ्[2] ज़ाथ मा सोरे
छिविथ् तं थुरिज़े कति क्या रुफ् ।।३४।।

व्याख्या

इस परमार्थ मार्ग के साधक के लिए भेद अथवा द्वैत (Dualism) की भावना के समाप्त होने पर संसार की कोई भी शक्ति बाधक (रुकावट) नहीं हो सकती है। अर्थात् संसार के माया मोह इसे ललचाकर अपने जाल में नहीं फँसा सकते हैं। जिस प्रकार तूफानी वायु की गति को रास्ते में आड़े आने वाले स्थिर और मजबूत पहाड़ भी रोक नहीं पाते हैं उसी प्रकार सांसरिक माया मोह रूपी

---

१. खेथ् क, ख पाठ।
२. बांज़िरिथि—क, ख पाठ।

पहाड़ तूफान की गति से साधना मार्ग पर चलने वाले उस साधक को रोक नहीं सकते। यदि यह परमार्थ ज्ञाता साधक संसार के काम काज में व्यस्त (मशगूल) भी रहे, तो भी इसे संसार की चमक-दमक अपने मोह में बाँध नहीं पाती है। यदि यह तत्त्ववेत्ता (Knower of the reality) संसार के भोगों का भोग भी करता रहे (अर्थात् संसार के हरएक आनन्द का स्वाद भी लेता रहे) तो भी इसकी पारमार्थिकता (Spirituality) कभी अपने लक्ष्य (Aim) से भटकती नहीं है। यदि यह साधक भोगों के आमोद-प्रमोद में मस्त भी हो तो भी वह अपने आत्मस्वरूप को खोता नहीं है ।।३४।।

टिप्पणी

सभ्या भवानी ने उस पहुँचे हुए साधक की यह परिभाषा (Definition) प्रस्तुत की है ; जो संसार के भोगों का स्वाद चखता हुआ भी संसार से अलग-थलग रहता हुआ कहीं और ही, महा-ध्यान में सदा डूबा रहता है। इस प्रकार के महातमा कभी भी कोई दिखावा न करके, संसार में साधारण लोगों के समान विहार करके भी, किसी महान-चिन्तन में सदा मग्न हुआ करते हैं।

युस् मनि ह्यये[1] ध्यान तं पानस् तोले
कुँह नं गेलि तं कांसि न गेले
ज़ागि हरस् तं लागेंस् बेले
पानैय् पानस् सूति सुय्[2] मेले ।।३५।।

व्याख्या

जो साधक मणि (हीरा) रूपी हृदय में ब्रह्म के ध्यान और अपने आत्मस्वरूप का निरन्तर समतोलन (तोलना और मूल्याँकन) करता है, अर्थात् परम तत्त्व (Supreme being) में अपने आत्मस्वरूप

१. हिय् घ पाठ।
२. पिंगलेन की पाण्डुलिपि।

(Self being) का 'विमर्श' करता रहता है और न किसी से घृणा (Hate) करता है और न किसी की घृणा से विचलित होता है, और केवल अपने स्वरूप में शिव को जागृत करके उसी के ध्यान में मग्न रहता है वह साधक निरन्तर चिन्तन मनन के द्वारा अपने स्वरूप को परमशिव के स्वरूप में लीन करके मुक्त हो जाता है ।।३५।।

टिप्पणी

यहाँ ध्यान देने के योग्य बात यह है कि जब साधक अपने मन को हीरे के समान निर्मल, शुद्ध और बहुमूल्य बनाकर, उसमें ब्रह्म की सत्ता बिठाकर, अपनी आत्मा को ब्रह्म के स्तर पर पहुँचा लेता और अपने में शिवत्व को जगाकर उसी "शिवोऽहम्" स्वरूप में खोजता है तब निश्चय ही स्वयं अपने में मोक्ष का मार्ग प्राप्त करता है।

संतोष समाद् एक आसन पर
मैं यूँ लगाया प्रयम का व्रत
दृड़ किया वालवाशी आँखियो का
ज्योति स्वरूपा क्या करूँ मेरे से तेरे का
सूक्ष्म रूप दिखाया तुम्हारी आज्ञा से
तुम्हारे चरण हृदय में बसाया ।।३६।।

व्याख्या

मैं स्थिर आसन पर बैठकर आनन्द और प्रेम का व्रत धारण करके संतोष रूपी समाधि में विलीन हुई। मैंने शिकारी के समान अपनी आँखों का जाल बड़ी सावधानी से तुम पर (भगवान पर) लगाया। हे ज्योति-स्वरूप ! अब तुम्हारे और मेरे स्वरूप में कुछ भी भेद बाकी नहीं है। हे प्रभु ! आपने ही अनुग्रह करके तात्त्विक रूप मुझे दिखाया और भाव-विभोर होकर मैंने आपके चरणों को अपने हृदय में स्थापित किया है ।।३६।।

टिप्पणी

यह पद्य आत्मानुभूति के निकट अधिक है। भवानी अलक्ष्येश्वरी अपनी साधना की चरम सीमा को स्पर्श करके अपनत्व को पूरी तरह खो चुकी हैं। योगशास्त्र के अनुसार भ्रू-मध्य (भौहों के बीच) की स्थिति पर पहुँचकर साधक सहस्रार की ओर बढ़ता है अतः यहीं पर उसे आत्मस्वरूप का स्पष्ट साक्षात्कार प्राप्त होता है। "वालवाशी" शब्द में श्लेष है, उसके दो अर्थ हैं—प्रथम अर्थ—"हे प्रभु ! मैंने आँखों रूपी पाश अथवा जाल में तुम्हारे स्वरूप को बन्द किया है। द्वितीय अर्थ--हे प्रभु। तुम्हारे अलौकिक ज्ञान के प्राप्त होने पर मैंने दृढ़ता से आँखों रूपी फांसी में इस भ्रम पैदा करने वाले संसार को फंसा दिया, जिसके फलस्वरूप मैंने इस संसार की उपेक्षा (Ignore) करके केवल आपके स्वरूप को सर्वत्र देखा है।

अपने घर आया आप सांई
जो कुछ मैं था सो अब नाहीं
यह बोध आया गुरु की बड़ाई
जिन गुरु ने दिया सत का तत्त्व बताई ॥३७॥

व्याख्या

स्वात्म बोध (Self-realisation) स्वयं ही मेरे स्वरूप में समाया है, अतः इस प्राप्ति के उपरान्त जो मैं विगत समय (Past) में थी अब नहीं हूँ। सही बात तो यह है कि यह चेतना मुझे गुरुदेव की अनन्य कृपा के फलस्वरूप ही प्राप्त हुई है क्योंकि उन्होंने ही यथार्थ स्वरूप का निरूपण किया था। अर्थात् रहस्य की सारी बातें उन्होंने ही मुझे बताईं जिससे मैंने तात्त्विक-ज्ञान को प्राप्त किया ॥३७॥

यवं[1] तूर[2] चलि ही तिमैय् वल् अंबर
यव बोछि चलिही आसख् लेफ़्त

१. यवा ग, घ पाठ।
२. तूड क, ग, ङ पाठ।

तिमैय् आहार बोख्त योक्त यूग कर
रुग गलंनैय्[1] आसख् मोख्त
मेलिय्[2] निष्कल तुरीय विशीषा
खेल मीलिथ् तं आनन्द चोन ॥३८॥

व्याख्या

साधक को जागरूकता देते हुए भवानी कहती हैं:—तुम उन वस्त्रों को पहन लो जो अजर और अमर हैं और जिनके ओढ़ने से मृत्यु रूपी ठंडक भाग जाएगी। उस सच्चिदानन्द के रस का आस्वादन करो जिसके पाने से तुम्हारे शरीर की भूख मिट जाए और तुम आत्मानन्द के रस में नित्य तृप्त रहो। उस अमूल्य योग का संरक्षण करो जिसके फलस्वरूप अन्य भोजनों की इच्छा ही नहीं रहेगी। इस कृपा के कारण तुम्हारे दैहिक, दैविक और भौतिक सन्ताप अथवा समस्त रोग नष्ट हो जाएँगे। इससे तुम काल-कलना से हीन होकर तुरीयावस्था को प्राप्त करोगे। [जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति से परे होना तथा दिशा-काल (Time and space) से ऊपर उठना तुरीयावस्था का आनन्द है] इस दशा में आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप से (अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप से) आनन्द के खेल खेलकर केवल रसात्मक अनुभूति का पान करेगी ॥३८॥

टिप्पणी

इस प्रकार के पद्य वास्तव में उद्‌बोधात्मक एवं निजी अनुभूति से मंजे हुए हैं। जब साधक क्षणिक वस्तुओं के प्रलोभन से ऊपर हो जाएगा और जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के परतों को पार कर लेगा तब इस साधक के लिए ऐसी स्थिति आ जायगी जब वह तीनों अवस्थाओं से उत्तम तुरीयावस्था

---

१. गलिय क, ख पाठ।
२. तेलिय क, ग, घ पाठ।

पर पहुँच जाता है। जब साधक इस चौथी अवस्था (तुरीय) पर पहुँचता है तो वह "निष्कल" बन जाता है अर्थात् काल (समय) और दिशा (Time and space) से परे हो जाता है।

बागस् चायेंस् बागे आयेंस्
परम[1] शिवस् शक्ती सरस्
शरणे आयेंस् ललीश्वरस्
श्रीसथ् ग्वरस् माधवा शिवस्
श्रेयादीवस् साकारस् निराकारस्
अन्तरंकिस्[3] सतंकिस् ब्वंतस् ॥३९॥

व्याख्या

[भवानी अलक्ष्येश्वरी ने जब ऐहिक गृहस्थ आदि का त्याग कर दिया था और मोह से छूटने के उपरान्त उनका वास्तविक स्वरूप प्रकट हुआ था उस समय की यह उक्ति है।]

परमार्थ रूपी उपवन अथवा बाग में प्रवेश करने के उपरान्त मुझे अपने शक्ति स्वरूप अवतार का स्पष्ट और सरस ज्ञान प्राप्त हुआ और तब शक्ति स्वरूपा मुझ रूप-भवानी ने सौभाग्यवती बन-कर अपने अभिन्न (Integral) परमशिव को खोजना आरम्भ किया। वास्तव में यह गौरव लल्लेश्वरी का ही है जिसका सहारा मैंने प्राप्त किया और यह शिव-स्वरूप मेरे पिता माधव की अपार कृपा का सार है जिन्होंने सही गुरु बनकर मेरा रास्ता निष्कंटक बनाया

---

१. परम सरस् तं नारस् क, ख, ग, च पाठ, परंतु मार्तण्ड पाण्डुलिपि और पिंगलेन् की पाण्डुप्रति अधिक प्राचीन एवं अधिक शुद्ध पाठ वाली होने के कारण इसी का पाठ अर्थ की संगति में ठीक बैठता है। अतः यही पाठ मैंने लिया है।

२. सीवादीवस् क, ख, ग पाठ।

३. सतसूय क, ग, घ, च पाठ।

तथा इस अलौकिक मार्ग पर चलने का मुझे साहस और सहारा दिया। पितृ-श्री माधव और लल्लेश्वरी के अपार अनुग्रह के कारण ही परंब्रह्म के साकार और निराकार गूढ-रहस्यों की पहेली मेरी समझ में आई। इन्हीं सन्तों की कृपा से मुझे अन्तः अवस्थित आत्म-स्वरूप का ज्ञान पुनः उपलब्ध हुआ है ॥३९॥

अहम् पद् सतंसूत्य[1] ओवुरुम्[2]
शिवं रव् हंसा पानस्[3] अंनुम्
मैं चेंड्[4] प्यालं बरिथं हा मद्कीय्
मैं चव्[5] हाल प्योम सूय्[6] आख ॥४०॥

व्याख्या

सत्य के अमोघ अस्त्र से मैंने "अहं-पद" को खोज निकाला अर्थात् सत्य-ज्ञान के प्राप्त होने के उपरान्त ही मैंने अहं परामर्श ब्रह्म (Supreme being) की उपलब्धि की और कल्याण स्वरूपा अपनी आत्मा को प्राणायाम आदि के द्वारा अपने में ही जगाकर मेरी चेतना प्रकाशित हो उठी। तब ही मैंने भगवत्-स्वरूप के मद (शराब) के प्याले निरन्तर पिए। निरन्तर भगवत्-रस की शराब को पीने के कारण मुझमें आत्मानन्द का अंकुर जागृत हो उठा जिसके फल-स्वरूप मैं भगवत् भक्ति के नशे में सदा चूर रहती हूँ ॥४०॥

टिप्पणी

"शिवं रव् हंसा पानस् अंनुम्" इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार से भी संभव हो सकता है—मैंने निरन्तर विमर्श (प्रतिभिज्ञा द्वारा) के बल से अपने

१. सदा माधव क, ग, घ, च पाठ।
२. केवल मार्तण्ड और पिंगलेन् पाण्डु लिपि में।
३. केवल मार्तण्ड और पिंगलेन् पाण्ड लिपि में।
४. दाव क, ख, ग, ङ पाठ।
५. दाव क, ख, ग, ङ पाठ।
६. दाव क, ख, ग, ङ पाठ।

में "शिवोऽहम्" की गूँज लगा कर यथार्थ अहम्-पद (Supreme being) को प्राप्त किया।

दीह[1] आनन्द नद मया
लूचन प्याला मुचर
साकयं पिलाओ हुह्-हा
बेयि बेयि हा हा मतवाला ॥४१॥

व्याख्या

ज्ञान प्रवाह-रूपी बहती मदिरा (शराब) की नदी में शरीर को डुबोकर आनन्दमय बना दिया। इस अपार उन्माद (नशे) से आँखों पर इतना नशा छा गया है कि ये आँखें प्रिय-रस से पूर्ण प्याले के समान उन्मेष (खुलना) कर रहीं हैं और अखण्ड साधना रूपी मधुबाला (साकी) से आत्मा बार-बार आग्रह कर रही है कि 'फिर से पिलाओ'। उन्माद की स्थिति में यह नर्तक-आत्मा पी-पीकर इतनी विस्मृत बन उठी है कि अब यह ज़ोर से ठहाके लगा-कर बार-बार पीने का हठ कर रही है ॥४१॥

टिप्पणी

शैवदर्शन के "शिव-सूत्र" में "नर्तक-आत्मा" सूत्र के अनुसार, जब साधक चिदानन्द के अपार आनन्द में पूर्ण रूप से डूब जाता है तब उस स्थिति में रागात्मक अनुभूति इतनी तीव्र और उत्कट होती है कि साधक सर्वथा (सब प्रकार से) उसी में मग्न रहता है।

आगरं ग्रेजिथ् तैय् नदं सें दुम्[2]
बानं बरिथ् तैय् पूरिम्[3] खासि

---

१. देहानन्द क, ख पाठ।
२. सांत्री—क, ख, घ पाठ।
१. फिरिथ्—क, ग, घ पाठ।

खेंन् कमाह् तैय् ? वेपा नर
बंरि बंरि तैय चेंङ्व्[1] यखलासे ॥४२॥

व्याख्या

अपनी आत्म-प्रत्यभिज्ञा (Recognition, मुड़कर अपने को पहचानकर) करने के उपरान्त मैं ज्ञान की प्रवाहित नदी के समान गर्जन करती हुई नीचे की ओर (अर्थात् साधारण जन-मानस को जगाने के लिए) बहने लगी । मैंने इस अलौकिक ज्ञान-रूपी जल से प्रत्येक बर्तन (हर एक प्राणी अथवा जीव) को भर दिया । इसके उपरान्त जो हीन प्राय (Inferior) जल के पात्र (जीव या प्राणी) थे उन्हें भी इस ज्ञान रूपी जल से भर दिया। अब भवानी अलक्ष्येश्वरी स्वयं से प्रश्न करती हुई कहतीं हैं :—आखिर यह सब तैय्यारियाँ किस के लिए हैं ? उत्तर में भवानी स्वयं ही कहती हैं—"जिनमें पात्रता है अथवा जिन्हें आवश्यकता है, वे सारे आकर समान रूप से (अर्थात् किसी भी भेद-भाव के बिना) इस प्रवाहशील ज्ञानरूपी नदी पर आकर तृप्त होकर पान करे ।।४२।।

टिप्पणी

सभ्या-भवानी अपने यथार्थ-स्वरूप से अवश्य ही परिचित हैं परन्तु उनकी अभिलाषा यह भी है कि जो प्राणी आत्मज्ञान से रहित एवं संसार के आवागमन से पीड़ित हैं उनके उद्धार के लिए वे तैयार रहें। पर प्रश्न यह है—**"वेपा नर्"** अर्थात् इस ज्ञानरूपी नदी का पान वे ही कर सकते हैं जिनमें व्याप्ति या पात्रता हो, अर्थात् जिनमें इस के लिए व्यग्र अभिलाषा होगी वे ही इसका पान कर पाएँगे ।

आगरं ग्रैंजंवूञ्य अम्रेतूच नदा
रंज़वूञ् प्रेज़ंलान् सदाबूत

---

१. चीव क, ख, ग पाठ ।

तीलिथ तं लद्वूज् त्वेंन बोंवनन् सदा
मीलिथ् तं समुद्रूच पद्वो बेंयि ।।४३।।

व्याख्या

इस पद्य में भगवती अलक्ष्येश्वरी अपने शारिका-भगवती के अवतार अंश का संकेत देती हुई कहती हैं :—मैं चिरस्थायी, शोभा-पूर्ण तथा प्रज्ज्वलित शक्ति-स्वरूप अमृत नदी के स्रोत (Source) से गर्जना करती हुई प्रकट हुई हूँ। अर्थात् मेरा आविर्भाव कर्मजाल के कारण नहीं हुआ है अपितु भक्तों की माँग के कारण मेरा अवतार हुआ है। मेरा स्वरूप शोभाशील और प्रकाशपूर्ण अमृत-नदी के सदा रहने वाले और गरजते हुए स्रोत से उत्पन्न हुआ है। मेरा ही शक्ति-प्रवाह तीनों लोकों में ओत-प्रोत है (ठहरा है) और इन तीन लोकों का अस्तित्व (Existence) मेरे ही कारण है। यह माना कि मानव देह धारण करने के कारण मेरा विस्तार (Expanse) संकोचित (Limited) हुआ है परन्तु आत्मस्वरूप के लक्ष्य (Aim) पर दृष्टि डालने के कारण मेरा स्वरूप फिर बिन्दु से सागर बन उठा है। अर्थात् मानव शरीर धारण करने के कारण यद्यपि मेरी अवस्था बूँद के समान दिखाई दे रही थी किन्तु इस मानव-शरीर में भी आत्म-स्वरूप के परिचय होने के बाद, मैं अपने शारिका-भगवती के आंशिक अवतार-स्वरूप को जानकर, पुन: अपार शक्ति-समुद्र का अभिन्न स्वरूप बन उठी हूँ।।४३।।

टिप्पणी

"त्वेंनं बोंवंनन् सदा" इस पंक्ति का उक्त अर्थ के अतिरिक्त और भी सम्बन्ध है—"मुझ शक्ति-तत्त्व (Element of energy) का स्वरूप भूत (Past) वर्तमान (Present) और भविष्य (Future) तीनों कालों में रहता है। मैं ही शक्ति-स्वरूप बनकर अकार, उकार, और मकार के रूप में "ओम्" अक्षर बनकर समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त होती हूँ। मैं ही विश्वजननी (Universal mother) बनकर, शिव-शक्ति और नर (जीव) के रूप में

अवतीर्ण होकर, इस ब्रह्माण्ड का कार्यकलाप नियंत्रण (Control) में रखती हूँ। मैं ही अपने शक्ति-प्रवाह के कारण ब्रह्मा, विष्णु और शिव, तथा सत, तम, और रज गुण बनकर अनन्त चराचर का निर्माण करती हूँ।

होश मेलि तैय् पोश[1] फ्वलानी
गोश खेंलानी[2] सादू संग
गंज ग्यांजी चानि[3] रूपं द्यांनी
क्रेंपा चांनी बहुदानी रंग ॥४४॥

व्याख्या

जागरूकता के चिन्तन का समाधान होने के उपरान्त परमार्थ-मार्ग में भिन्न-भिन्न प्रकार के फूल खिल उठते हैं। अर्थात् आत्म-स्वरूप की चेतना (अथवा प्रकाश) की प्राप्ति होने के उपरान्त समस्त ब्रह्माण्ड खिला हुआ सा दिखाई देता है ; उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश आने पर भिन्न-भिन्न रंगों के फूल खिल उठते हैं। साधक की आत्मा साधुओं और सन्तों के मेल-मिलाप से प्रफुल्लित होती है। यही कारण है प्राणाभ्यासी और ज्ञानीजन सदा परंब्रह्म के ध्यान में मग्न रहा करते हैं और यह परंब्रह्म, जो वास्तव में अपार दानी हैं, इन परमार्थ-मार्ग पर चलने वाले सन्तों से सन्तुष्ट होकर उन्हें अभीष्ठ फल देता है ॥४४॥

टिप्पणी

सभ्या-भवानी के कथन का अभिप्राय यह है कि जब साधक ब्रह्म के स्वरूप को जानने का निरन्तर अभ्यास करता है तभी वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार सम्भव हो सकता है। इस तत्परता के पीछे प्राणाभ्यासी और

---

१. फ्वल्लानी ग, घ पाठ।
२. खिर्लानी क, ख, ग पाठ।
३. अवक ख, ग, घ, ङ पाठ।

ज्ञानी सदा ही रहा करते हैं और परंब्रह्म भी संतुष्ट होकर उनका कल्याण करता है।

सुअ् महा शमाह प्रेज़्लांनी
तमाह् वेषणा[1] दज़ानी[2] छि
अव रूपं प्रेमं छुय् मेलांनी
यिम् पद कांसि मेलांनी क्याह् ॥४५॥

व्याख्या

साधक लोभ एवं तृष्णा को भस्म करके और अनन्य भगवत्-प्रेम से अपने को तपाकर, ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होकर भगवान् में लीन हो जाता है। सभ्याभवानी आश्चर्य और कौतूहल से मुखरित होकर कहती है कि इस प्रकार का पद अथवा ऊँची अवस्था विरले ही किसी सन्त-साधक को प्राप्त होती है। [यहाँ "**क्याह्**" प्रश्न-वाचक है अतः भवानी आश्चर्य से हैरान होकर कहती हैं क्या इस प्रकार का महान पद कोई प्राप्त कर सकता है यदि वह लोभ और तृष्णा पर अधिकार करके अनन्य प्रेम में अपने को तपाए ॥४५॥

टिप्पणी

उक्त पद्य की अन्तिम पंक्ति शंका एवं सन्देह की नहीं है अपितु जिज्ञासा (जानने की इच्छा), कौतूहल और अपार इच्छा की है जिनसे पार हो जाना भवानी का लक्ष्य है। अतः भवानी स्पष्ट रूप से कहतीं हैं कि इस प्रकार के महान पद किसी विरले ही व्यक्ति, अथवा साधक को, प्राप्त होते हैं और उसी को प्राप्त होते है जो इन सारे बन्धनों से मुक्त हुआ हो और जिसने भगवान श्रीकृष्ण के उपदेश के अनुसार—"जहि शत्रुं महाबाहो काम-रूपं दुरासदम्" अर्थात् हे महाबाहु अर्जुन ! इस दुर्जय काम-रूपी शत्रु को मार अथवा इस पर विजय प्राप्त कर।"

---

१. व्यन् क, ख, ग पाठ।
२. ज़्लांनी क, ख, ग, घ पाठ।

मथित्[1] पथं ब्रोंह् सथ-रूप
मेली[2] सथ्-गथ् तं तत्त्व
तेली[3] रूप[4] राग[5] हररंग
मेली आत्मसंगसस्तुति[6] रव ॥४६॥

व्याख्या

जब साधक सत्य और वास्तविकता का अन्तः बहिः (भीतर-बाहर) में पूरी तरह से मन्थन करेगा अर्थात् पाखण्ड और प्रपंच को छोड़कर, (जो अन्दर है वही स्वरूप बाहर भी रखेगा) तो अवश्य ही इस सच्चाई की मशाल से वह परमतत्त्व (परंब्रह्म) को प्राप्त कर लेगा। जब परमेश्वर के स्वरूप से रागात्मक सम्बन्ध हो जायगा अथवा उसकी पीड़ा (प्राप्ति की छटपटाहट) साधक के मन में उभर उठेगी तब परंब्रह्म के स्वरूप के साथ उसके आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होगा ॥४६॥

टिप्पणी

तीसरी पंक्ति "तेली रूप राग हररंग" का अर्थ इस प्रकार से भी हो सकता है—जिस प्रकार तेल हर एक वस्तु में पसरता (फैलता) है उसी प्रकार आत्मस्वरूप के रागात्मक तत्त्व का संचार अणु-अणु और कण-कण में व्याप्त दिखाई देने के बाद केवल अनाहत-नाद (ब्रह्मरन्ध्र की ध्वनि) ही सुनाई देगा।

गोडं[7] कंरिम कांहन् अटं
लटं दिवुन् होवंनम् व्यान

---

१. मथुरा क, ख, ग, घ, ङ पाठ।
२. मेलुयौ क, ग, घ पाठ।
३. तेलुयौ क, ग, घ पाठ।
४. रोय रंगे क, ख, ङ पाठ।
५. रगे क, ख, ग पाठ।
६. संग (केवल) क, ख, ङ पाठ।
७. अवल क, ख, ग पाठ।

शम्योमं[1] दीह दीप्त[2] आयम् वटं
छटं फेरवुन् अवैय म्योन पान
तूषुम्[3] तं कांसंनम् नेलन् गटं
ज़न् चाटस् ग्वरन् वोखंनुम् ज्ञान ।।४७।।

व्याख्या

परमसिद्धा भवानी अपने योगाभ्यास का संकेत देते हुए कहतीं हैं कि शुरू की साधना में, मैंने पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच-ज्ञानेन्द्रिय और अन्त:करण को एकाकार किया अर्थात् इन ग्यारह तत्त्वों का संयम किया अथवा इन ग्यारह तत्त्वों को पिण्ड बनाकर एक ही आत्म-स्वरूप में लीन किया परन्तु इस संयम में (अथवा इन ग्यारह तत्त्वों को संयम में लाने के उपरान्त भी) मुझे यथार्थ और वास्तविक ब्रह्म का साक्षात्कार संभव नहीं हो सका अपितु जो भी ध्यान मुझे प्राप्त हुआ था वह टिकाऊ नहीं था। इसलिए मैंने देहाभिमान का पूरी तरह शमन किया। इस देहाभिमान के समाप्त होने के उपरान्त ठेठ और वास्तविक ज्ञान की दीप्ति (चमक) मुझे प्राप्त हुई। यही कारण है कि इस समय मेरा समस्त शरीर ज्ञान की प्रभा (रोशनी) से चकाचौंध कराने वाला और भड़कीला दिखाई दे रहा है। जब परमात्मा ने अपने तेजस्वी स्वरूप से अनुग्रह किया तो आँखों का सारा अँधेरा दूर हो गया, उसी प्रकार जिस प्रकार गुरु अपनी शिष्या का सारा अँधेरा (अज्ञान) दूर करके उसे प्रकाश के मार्ग पर लाता है ।।४७।।

टिप्पणी

भगवान श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से यही कहा था कि **"दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्"** मैंने तुझे अलौकिक आखें दी हैं, अब तू मेरे

---

१. शमर्याम् क, ख, ग पाठ ।
२. द्यवं क, ख, ग पाठ ।
३. तुष्टुम् क, ख, ग पाठ ।

योगात्मक—ऐश्वर्य को देख" इसी प्रकार ईश्वर ने संतुष्ट होकर, सभ्या-भवानी को अलौकिक आँखें प्रदान करके, उन्हें असीम दृष्टि दी।

यसुय ग्वर पिता सुय् छुय् मोल
सुय इह् प्रबल दीप प्रकाश
सुय इह् सर्व कला[1] वोदार आसुन्[2]
सुह् इह् ईश्वर सुह छुह[3] ग्वर् ॥४८॥

व्याख्या

जो गुरुदेव है वही पिता और जनक है। वही इस उत्कृष्ट आत्म-स्वरूप के दीपक को प्रज्वलित करने वाला है। वही सोलह कलाओं को दिखाने वाला उदार मार्ग-दर्शक (रास्ता दिखाने वाला) है। वही गुरु बनकर ईश्वर के स्वरूप में अँधेरे से प्रकाश में लाने वाला है॥४८॥

टिप्पणी

सभ्या-भवानी को अपने पितृ-श्री माधवजी पर अपार श्रद्धा थी वे ही वास्तव में उन्हें अध्यात्मिक-मार्ग दिखाने वाले थे। यही कारण है भवानी सर्वात्मवाद के दृष्टिकोण से पिता, गुरु और ईश्वर को एक ही स्वरूप में देख रही हैं।

काह येलि[4] दज़न सु[5] इयि[6] वारे
बैय[7] येलि[8] गले[9] अचेस् ग्रेख

---

१. क्कलस् क, ख, ग पाठ।
२. खुन् क, ख, ग पाठ।
३. सुय छय क, ख पाठ।
❀ यह देह मेरी है, मैं इस देह का हूँ इसलिए इस देह (और इन्द्रियों) के द्वारा किये कर्मों से उत्पन्न सुख और दुख से अपने को सुखी और दुखी होते हुए मानना—यही देहाभिमान है। जो साधक आत्मस्वरूप को पहिचान लेता है वह देहाभिमान से ऊपर उठ जाता है। —सम्पादक
४. यिद्, युद्ध क, ख, ग पाठ।
५. व्यह क, ख, ग पाठ।
६. ह्ययि क, ख पाठ।
७. ब्वय् क, ग पाठ।
८. ह्ययि क, ख पाठ।
९. हाहन् क, ख पाठ।

क्रूद्[1] तावे बूद्स[2] सु बावे
शह्‌ले च़न्दुन् दारे क्राय ॥४९॥

व्याख्या

जब तपस्यारत साधक की पाँच-कर्मेन्द्रियाँ और अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) अन्तः बहिः (भीतर-बाहर) प्रलोभनों से मुक्त होकर भस्म हो जायेंगे (अर्थात् शान्त हो जायेंगे) तभी आत्म-स्वरूप का उन्मेष हो सकता है। अर्थात् तभी आत्मस्वरूप प्राप्त करने की बारी आ सकती है ; और जब इस साधक के लिए जन्म-मरण, भाव-अभाव, मान-अपमान, दुख-सुख और प्रेम-ग्लानि का भय पूरी तरह समाप्त हो जायगा तभी उसमें आत्मस्वरूप के लाभ की चेतना जागृत होगी। अर्थात् आत्मस्वरूप के उबलने (आवेश) का अनुभव होगा।

इस अवस्था का साधक क्रोध को छोड़कर केवल प्रशान्त ज्ञान के परिवेश (माहौल) अथवा आनन्द में रहकर संसार की किसी भी भयानक तपन को उसी प्रकार शान्त कर सकता है जिस प्रकार से शुद्ध चन्दन का टुकड़ा खौलते तेल की कड़ाही में पड़कर उस तेल के उबाल को शीतल बनाता है ॥४९॥

टिप्पणी

श्री अभिनवगुप्त पाद ने श्रीमद्‌भगवत् गीता के अपने भाष्य (टीका) में इस बात का संकेत किया है कि जिस प्रकार खौलते तेल की कड़ाही में शुद्ध चन्दन के डालने से उसका उबाल एवं तपन एकदम शान्त हो जाते हैं उसी प्रकार वास्तविक सन्त-साधक के निकट संसार की भयानक तपन भी शीतल हो जाती है। खौलते तेल की कड़ाही में चन्दन डालकर शीतल करने का उल्लेख बौद्ध भिक्षु नागार्जुन ने भी किया है। इस पद्य (४९) की अन्तिम पंक्ति का अर्थ-क्रम इस प्रकार से करना चाहिए—"**च़न्दुन दारे शह्‌ले क्राय।**"

---

१. क्रूह क, ख पाठ।

२. बुध्यस् क, ख, ग पाठ।

युस सूयं[1] बोंयि[2], बोंयि तं वेंचारे
इन्द्यै् मारेन् ज़ सहज़ं[3] विचार
स्यदं तैय् साद लगि अर्थं होनंरे
कांलि[4] लोबं तैय् वने[5] क्याह् ॥५०॥

व्याख्या

जो सन्त-साधक बार-बार इस अलौकिक आत्म-स्वरूप का विमर्श, चिन्तन और मनन करता है और जो हठ किए बिना; अपनी इन्द्रियों को स्वाभाविक स्वरूप से अपने अधिकार में करता है (अर्थात् इन्द्रियों को अपने आत्मस्वरूप में ही लीन करता है) निश्चय ही वह साधक प्रशंसनीय है। इस प्रकार की पारमार्थिक खोज में सारे सिद्धेश्वर, मुनीश्वर और साधु ध्यान-मग्न साधना एवं तपस्या में लगे हुए हैं परन्तु उनमें से कोई विरला ही साधक उस तेजस्वी ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त करता है; और साक्षात्कार होने के उपरान्त भी वह कह नहीं सकता है कि 'वह' क्या है अर्थात् वह गूँगा बनकर चुप हो जाता है।।५०।।

टिप्पणी

सभ्या-भवानी के कथन का अभिप्राय यह है कि समाधि आदि के द्वारा भी यह भेद अथवा द्वैत (Dualism) हटता नहीं है परन्तु जो निरन्तर और बार-बार मनन चिन्तन करता रहता है वही उस ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है, साक्षात्कार होने के उपरान्त भी वह कह कर बता नहीं सकता कि 'वह' स्वरूप कैसा है? अर्थात् भाषा के माध्यम से वह वर्णन नहीं कर सकता है।

१. केवल मार्तण्ड और पिंगलेन पाण्डुलिपि में।
२. ब्वहता ब्ययि क, ख, घ पाठ।
३. ज़न क्वंगर क, ख, ग पाठ।
४. लौगु क, ख पाठ।
५. बारे क, ख, ग पाठ।

द्राव् वुफे वाव-रूपी[1] गुर्
ग्वर ईश्वर आव अविनाशी
पानं मशे तं ध्याना तोशे
स्वमनं परमानन्द् वोत तथ् राशे ॥५१॥

व्याख्या

यह श्वास-प्रश्वास रूपी घोड़ा अपनी चंचलता को छोड़कर प्राणायाम आदि के सहारे सीधे उड़ान भर कर सहस्रार पर पहुँच जाता है। अर्थात् वह चंचल मन, जो अपने चैतन्य-पद (State of Consciousness) से भ्रष्ट होकर (अथवा नीचे उतरकर) और शारीरिक-संकोच ग्रहण करने के कारण केवल श्वास-प्रश्वास रूपी घोड़े पर चढ़कर चंचलता में ही जीवन गुजार रहा था, अब फिर से चैतन्य-पद (State of Consciousness) पर पहुँच गया है। इस चेतना (Consciousness) की प्राप्ति के फलस्वरूप ही अविनाशी गुरु (अर्थात् अज्ञान के अन्धकार को दूर करने वाले आत्म-स्वरूपी ईश्वर) का साक्षात्कार हुआ। अब शरीर की चिन्ता से मुक्त होकर, संतुष्ट होकर, ध्यान में निवास करता है। वह मन; जो मन की अवस्था में रहने के कारण खोया-खोया तथा भटका हुआ रहता था, अब चैतन्य-पद (Consciousness) की प्राप्ति के उपरान्त महान आनन्द की अवस्था में पहुँच गया है ॥५१॥

टिप्पणी

"चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्य संकोचिनी चित्तम्"

—प्रत्यभिज्ञा-हृदय, सूत्र ५

साधारण अवस्था में मनुष्य संकल्पों और विकल्पों (Alternatives) में भटकता रहता है क्योंकि संकल्प और विकल्प मन के गुण हैं। किन्तु शैव दर्शन में "मन" नामक कोई अलग सत्ता नहीं है अपितु आत्मा ही जीवभाव

---

१. वावं रूपैय गुर् क, ख, ग पाठ।

(Limited form) में आकर तथा शारीरिक-संकोच के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाकर मन नामक तत्त्व से जगत का व्यापार करती है। महायोगी अरविन्द का दर्शन (Philosophy) भी यही है कि मन (Mind) वास्तव में चैतन्य (Super mind) के अतिरिक्त कुछ नहीं है केवल जीव-भाव में आने के कारण इसमें स्वाभाविक संकोच (Limit) आ जाता है। अतः साधक का कर्म यह होना चाहिए कि वह मन (Mind) को साधना, परामर्श और चिन्तन के बल से पुनः चैतन्य-पद (State of Consciousness) पर पहुँचाकर, अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करे ॥

सु हा[1] अन्दर-नेंबर प्रथ दीशन्
क्ववैय[2] दीशन् ग्वारान् लूस्सुय[3] दोहं
च़ेंथ थव् स्यँछ्य् अन्दर छुय्[4] निशान
रूपस्स[5] वलिथं दितस् छोह ॥५२॥

व्याख्या

वह परमेश्वर सब जगह छाया हुआ है वह अन्तः-बहिः (भीतर बाहर) हर एक स्थान और दिशा में निवास करता है फिर क्यों तुम बहिः पूजा, तीर्थ और मन्दिरों में उसे खोज कर व्यर्थ अपना दिन गंवा रहे हो? तुम अपने आत्मस्वरूप के एकाग्र-भाव में उसे खोजो क्योंकि वह परमेश्वर तुम्हारे चित्-स्वरूप में ही निवास करता है। अतः उसे बाहिर खोजना व्यर्थ है। तुम अपने आत्मस्वरूप की गहराई में जाकर उसी स्वरूप में लय हो जाओ, तब अवश्य ही तुम्हें परमेश्वर का साक्षात्कार होगा ॥५२॥

---

१. वा क, ख, ग पाठ।
२. कंघव क, ख, ग पाठ।
३. लुस्तुय ख, ग, व पाठ।
४. मड़िस क, ख, ग पाठ।
५. दुशन क, ख, ग पाठ।

टिप्पणी

सर्वात्मवाद की अवस्था में पहुँचकर साधक परमेश्वर की सत्ता को हरएक परमाणु में देखता है। भवानी के शब्दों में—**"चेंथं थव् स्येंद्धय् अन्दर-छुय् निशानं"**, अपने चित्स्वरूप को लक्ष्य करके अन्तर के स्वरूप को जानो। आगम-शास्त्र में इसे '**भैरवी-मुद्रा**' कहते हैं—**"अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेष-वर्जितः"** अर्थात् साधक जगत में साधारण जीव की तरह रहकर, सदा आत्म-स्वरूप पर अटूट नजर रखकर, सृष्टि और संहार से रहित हो जाता है॥

कांत्यान क्रेंपा कर्‌थ पानं स्वगंवान
यिमन् मन् लगान् पानस् सूत्यं
इह व्यूहं लांविथ् सु दीह सादान्
अदं पतं[१] मेलान् पानैय्-पानस् सूत्यं ॥५३॥

व्याख्या

हे स्वात्म प्रभु ! तुम किन्हीं पर स्वयं ही अनुग्रह करके परमार्थ-रूपी रस से उनका अभिषेक (सिंचना) करते हो, जिसके फलस्वरूप वे भक्तजन संसार से उदासीन होकर अपने मन को केवल अपने सही स्वरूप को ढूँढने में लगाते हैं—अर्थात् तुम्हारी ही प्रेरणा के फलस्वरूप वे माया-मोह से छूट कर तुम्हारी साधना में जुट जाते हैं। वे भक्तजन इस भौतिक (material) शरीर के बन्धनों से छूटकर केवल आत्म-स्वरूप के उद्धार में लग जाते हैं, फिर वे भक्तजन, आत्मस्वरूप को परमस्वरूप में विलीन करके, मुक्त हो जाते हैं॥५३॥

टिप्पणी

पारमार्थिक ज्ञान को प्राप्त करना सहज और सरल नहीं है। इसके लिए भी भगवान की कृपा होनी चाहिए, तभी इस मार्ग की ओर प्रवृत्ति

---

१. उक्त पंक्ति में अपार भेद है, मार्तण्ड और पिंगलेन की पाण्डुलिपि में सही है किन्तु शेष पाण्डुलिपियों में पंक्ति इस प्रकार से है :—"वतिथ् वानस् लाल रत्न कस् बानस् कुसं"

उत्पन्न होती है (गीता—"**तत्प्रसादात्परां शान्तिस्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्**" अर्थात् भगवान की कृपा से ही उत्कृष्ट शान्ति और परमधाम प्राप्त होगा।) शैवदर्शन के "ज्ञानगर्भ ग्रन्थ" में इसी तथ्य (Fact) को और स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है—"**उदेति तव दारितान्धतमसः स विद्याङ्करो**" अर्थात् 'भगवान की अतुल कृपा अथवा अनुग्रह से जब शुद्धविद्या (Imperical knowledge) का अंकुर उत्पन्न होता है और मोह-माया का यह अँधेरा छूट जाता है तभी सत्य-ज्ञान की प्राप्ति होती है।'

यवं[1] पाठ ज़ानस् तव पाठ पड
यवं[2] ज़प जानस् सु माल फेरं
सों मोद्रा हाव तं युसं मदुरा[3] बु चेमं
नद् नालं रोंटं बौठिय[4] जय रत्नं माल ।।५४।।

व्याख्या

उस परंब्रह्म का जो अनन्य पाठ मैं जानती हूँ उसी पाठ का अनुसरण मैं करती हूँ। अर्थात् लोग प्रार्थना, स्तोत्र इत्यादि तो पढ़ते हैं परन्तु उनका मन कहीं, शरीर कहीं, ध्यान कहीं भटकता रहता है। भगवत्-प्रार्थना में वाणी, मन और कर्म में एकता रहनी चाहिए। भवानी यही स्पष्ट करती हैं कि जिस जप की विधि की मैं ज्ञाता बनकर अनुसरण करती हूँ उसी की माला फेरती हूँ। अर्थात् मैं व्यर्थ में पाठ और जप नहीं करती हूँ अपितु परंब्रह्म के तत्त्व को लक्ष्य करके ही मैं पाठ-जप करती हूँ। हे प्रभु। अब उस मुद्रा अर्थात् योग के उस चमत्कार को दिखाओ जिसके फलस्वरूप मैं उस अलौकिक मीठे रस का पान कर सकूँगी, क्योंकि जब प्यासा-ज्ञानी ज्ञानरूपी नदी को गले से पकड़ता है तो अवश्य ही विजय की रत्न-माला उसके गले में पड़ती है।।५४।।

---

१. नव क, ख, ग पाठ।
२. नव क, ख, ग पाठ।
३. प्याला क, ग, घ पाठ।
४. ब्ययिनय ख, ग पाठ।

टिप्पणी

भवानी के कथन का अभिप्राय यह है कि मैं पाठ-जप आदि साधना इस अभिप्राय से नहीं करती हूँ कि मुझे ऐहिक सुख (इस संसार का सुख) प्राप्त हो अपितु इसलिए करती हूँ कि मुझे परंब्रह्म के साक्षात्कार का लाभ प्राप्त हो। इसी प्रकार के पाठ और जप को मैं ध्यानस्थ होकर करती हूँ क्योंकि मैं उसी को जानती हूँ। मैं उस मुद्रा (ज्ञान-कला) का दर्शन चाहती हूँ जिसके पान करने से सारी प्यास (संसार की प्यास) बुझ जाती है। क्योंकि जब प्रवाहशील ज्ञान-नदी का आलिङ्गन होगा तो निश्चय ही विजय की रत्नमाला साधक के गले में पड़ेगी।

इवं[1] पाठ जानस् तवं पाठ पर
सु पाठ पानैय मने वोतं[2]
ज़पान् आत्म तं द्पान् वांणी
पेव मोदुर-रस[3] बागि[4] बरिथं छिवं ॥५५॥

व्याख्या

मंत्र और मंत्री अर्थात् साधक जिस पाठ या मंत्र का उच्चार करता है वह स्वयं उच्चार करने वाला या पढ़ने वाला साधक, जब तक ये दोनों भिन्न-भिन्न (अलग-अलग) हैं तब तक न तो पढ़ने वाले और न उस पाठ का कल्याण सम्भव है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए भवानी कहती हैं :—

जब तुम पढ़ने वाले पाठ या मंत्र की प्रकृति को अच्छी प्रकार से जानते हो तभी उसका पाठ अथवा उच्चार करो। अर्थात् उस पठनीय पाठ की प्रकृति, स्वभाव एवं उसके तत्त्व को जानने के उपरान्त ही वह पाठ तुम्हारी आत्मा की अपनी वस्तु बन जाएगा,

१. नव क, ख, ग पाठ।
२. वातु क, ख, घ पाठ।
३. मदु ग, घ पाठ।
४. बांजि क, ख, च पाठ।

नहीं तो यह सब तोते की रट के समान है। जिस पाठ या मंत्र का तुम, वही मंत्र या पाठमय स्वरूप बनकर, उच्चारण करोगे, तब वह मंत्र हीरे के समान निर्मल तुम्हारे आत्मस्वरूप में प्रवेश कर पाएगा। जब स्वयं आत्मा जपी (अर्थात् जप करने वाला) बनकर निर्मल वाणी से मंत्र का उच्चारण करेगी तो निश्चय ही परब्रह्म की अनुभूति का मीठा-रस साधक के लिए प्रवाहशील होकर फूट पड़ेगा ॥५५॥

टिप्पणी

सभ्या-भवानी के कथन का अभिप्राय यह है कि जब तक मंत्र और मंत्री ("जिसे जपा जाता है वह "मंत्र" जो जपने वाला है वह "मंत्री") दोनों अलग-अलग हैं तब तक आत्म-साक्षात्कार होना दुर्लभ है। "पृथक्मंत्रः पृथक्मंत्री न सिद्धयति कदाचन। ज्ञानमूलमिदं सर्वमन्यथा नैव सिद्धयति" शिवसूत्र–२/१ ; "जब तक मंत्र और मंत्री, वाच्य और वाचक, अलग-अलग हैं तब तक सिद्धि का कोई प्रश्न नहीं है क्योंकि मंत्र-पाठ आदि तो मनन और त्राण (रक्षा) के स्वभाव से युक्त होने के कारण ज्ञान-शक्ति में स्थित हैं।"

तिथ़ु ध्याना ह्यॊंत यिथं ज़ानैय् अन्त
तिथ़ु सहज़ दितं यिथ़ु पानस मैं चूह्
तिथ़ु[1] च़ूह लागतं यिथु बखंचूथ[2] शंकरस्
यिथु पानस् मॊच़ंरावनस् लगेमनं[3] कैंह ॥५६॥

व्याख्या

हे प्रभु ! उस प्रकार का ध्यान मुझे उपलब्ध कराओ जिसके फलस्वरूप सारे परमार्थ के रहस्य की गुत्थी सुलझ जाए। उस प्रकार की अलौकिक एवं स्वाभाविक समाधि का वरदान मुझे

---

१. ब्यय (अधिक पाठ) क, ख पाठ।
२. बहुत शंकर-बखूच क, ख पाठ।
३. न कुँह क, घ पाठ।

प्राप्त हो जहाँ केवल तुम्हारा ही ब्रह्मस्वरूप विद्यमान हो। उस प्रकार की अखण्ड एकाग्रता का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो जो आपने शंकर को दी है। जिसके कारण वे सदा ही ध्यान मग्न होकर अखण्ड समाधि में लीन रहते हैं। इस प्रकार के वरदान प्राप्त करने के उपरान्त में अनायास अपने आत्मस्वरूप का उद्घाटन करके उसका साक्षात्कार कर सकूँ ।।५६।।

टिप्पणी

सभ्या-भवानी ऐहिक सुख को तिलाञ्जलि देकर परंब्रह्म से केवल ये वरदान चाहती हैं—(क) मैं प्रकृति के रहस्य को पूरी तरह जान सकूँ। (ख) मुझे इस प्रकार की सहज-समाधि प्राप्त हो जिसके फलस्वरूप तुम्हारा रूप सबमें देख सकूँ। (ग) तुम्हारा स्वरूप मुझ में उसी प्रकार से ओतप्रोत हो जिस प्रकार भगवान शंकर में है। (घ) मैं अनायास अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर सकूँ।।

इ़होय् कुल् मूल तं श्वाह्[1] तुल
यवैय् शाख पन तं फ़ूल
दातं पेंङ़्व स मुद्रा पान
रसे स्वाद् तं ननेंस् जाथ[2] ।।५७।।

व्याख्या

इस शरीर रूपी वृक्ष का अस्तित्व इसका मूल ही है। मूल के अस्तित्व के कारण ही वृक्ष जीवित रह सकता है। अतः शरीर का होना मात्र संयोग नहीं अपितु मौलिक अनादि परम्परा का क्रम है। प्राण-शक्ति ही इसकी पूरक है अर्थात् प्राण-अपान ही इसके विकास का कारण है। उसीसे इसकी शाखाएँ, पर्ण (पत्ते) और फूलों का विकास होता है। सामान्य रूप से मनुष्य का शरीर

---

१. शाह क, ख पाठ।
२. बोय क, ख पाठ।

श्वास-प्रश्वास (अथवा प्राण-शक्ति) के कारण ही जीवित और विकासशील बनता है। परमार्थ-मार्ग में जीव के लिए श्रद्धा, भक्ति और ज्ञान तथा इच्छा, ज्ञान और क्रिया—शाखा, पत्ते और फूलों के समान है। वृक्ष के फूल जब फल के आकार में उभरने लगते हैं तो मुद्रा अथवा रूप का पान करने लगते हैं। साधक भी ज्ञान-मार्ग के द्वारा वास्तविक बोध प्राप्त करने के उपरान्त अपने आत्म-स्वरूप के रस में अपना अभिषेक करता है। वृक्ष में भी फल उभरने के उपरान्त रस का अभिषेक होता है, फिर धीरे-धीरे रस के पकने पर फल के स्वाद का मिठास आता है; जिससे उस वृक्ष की जाति का ज्ञान होता है। साधक भी स्वात्म-स्वरूप के फल की प्राप्ति के उपरान्त ब्रह्मानन्द के रस की अनुभूति प्राप्त करके अलौकिक परिपक्वता (पका हुआ रस) को प्राप्त करता है जिसके फलस्वरूप उसकी वास्तविक जाति पहचानी जाती है ॥५७॥

टिप्पणी

रूपक अलंकार के माध्यम से भवानी ने शरीर और वृक्ष को एक स्तर पर लाकर दोनों का सामञ्जस्य स्थापित किया है। जिस प्रकार वृक्ष का आधार मूल है उसी प्रकार साधना का केन्द्र-बिन्दु शरीर है। मूल जिस प्रकार रस से सिंचित होकर रसात्मक अनुभूति की स्थिति तक पहुँचाता है उसी प्रकार शरीर भी साधना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करके उसके द्वारा भगवत् प्राप्ति के फल को, (आनन्द-रस से भरकर) परिपक्वता पर पहुँचाता है।

महा[1] सु मौंदुर ग्याना सारे[2]
छ़क समाद् नाद् बिन्दं ब्रट्
दान अखण्ड[3] मिलावे मखन
सादिकारस् द्रवे गेंव् ॥५८॥

---

१. मन्दं क, ख पाठ।
२. सानी क, ग पाठ।
३. मिलाओ क, ख, च पाठ।
४. द्रायाम् क, ख पाठ।

व्याख्या

साधक निरन्तर मनन-चिन्तन करके उस अलौकिक और अनिर्वचनीय (जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता) भगवत्स्वरूप के मिठास का ध्यान प्राप्त करने के उपरान्त, समाधि के द्वारा नाद और बिन्दु, अर्थात् शिव और शक्ति अथवा ज्ञान-कला को एक साथ प्राप्त करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार का साधक समाधि के द्वारा नाद और बिन्दु के रहस्यमय पद को युगपत् (एक साथ) प्राप्त करके अपने अखण्ड दान को अर्थात् परमार्थ साधना से प्राप्त ज्ञानरूपी मक्खन को पुनः चेतना (Consciousness) की आँच पर चढ़ाकर (उस ज्ञान रूपी मक्खन की सारी खोट को दूर करके) घी रूपी बनाई हुई अपनी आत्मा को परमात्मा रूपी महाग्नि में स्वाहा करता है ।।५८।।

टिप्पणी

सभ्या-भवानी का यह पद अत्यन्त गूढ़ है। अन्तिम दो पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार से होता है—साधक अपनी साधना के द्वारा, (भगवान से) दान के रूप में प्राप्त अपने ज्ञान-रूपी मक्खन से ही संतोष नहीं करता है। (ज्ञान रूपी मक्खन ही मानो अपना आत्मस्वरूप है जिसको साधक ईश्वर से दान के रूप में प्राप्त करता है) अतः बुद्धिमान साधक मक्खन रूपी अपने आत्म-स्वरूप को चेतना (Consciousness) की आँच पर चढ़ाकर उस मक्खन के सारे मैल को दूर करके उसे शुद्ध घी बनाता है। घी बनने के बाद फिर कोई अवस्था प्राप्त करने के लिए शेष नहीं रहती है। फिर उस घी रूपी अपने आत्मस्वरूप को परमात्मा रूपी महा-अग्नि में होम करता है। अर्थात् उसी में लय होकर आवागमन के चक्र से छूट जाता है।

तव रूप येग्जा ह़ूमा करिथ्
आहोंतं दिच़ूसं अंगन् ह़ूंज़

ज्यूति प्रज़लेंङ्[1] कारण च्याने
बने[2] अतूरं तं ननेंस् बौंयं ॥५६॥

व्याख्या

हे प्रभु ! मैंने तुम्हारे ही द्वारा निर्मित (बनाये हुए) अपने आत्मस्वरूप के एक बड़े भारी यज्ञ का अनुष्ठान आरम्भ किया। अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए आत्म-ज्ञान का एक यज्ञ शुरू किया। साधारण यज्ञों में अग्नि में घी हविष्य (हवन-सामग्री) के रूप में डाला जाता है किन्तु मैंने अपनी कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों और अन्तःकरण को घी और हवन-सामग्री बना कर आहुति के रूप में स्वाहा किया। साधारण रूप से आहुति अग्नि में पड़ने के फलस्वरूप ज्योति प्रज्ज्वलित हो उठती है परन्तु मेरी आत्मस्वरूप रूपी अग्नि में तुम ही कारण बनकर प्रज्ज्वलित हो उठे। अर्थात् अखण्ड ज्ञान की ज्योति मेरे रोम-रोम में प्रज्ज्वलित हो उठी जिसके फलस्वरूप चेतना की सुगन्धि चारों ओर महक उठी और मुझे वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हुआ ॥५६॥

टिप्पणी

"अंगन् हूंज" का सामान्य अर्थ है "अंगों की आहुतियाँ" है। किन्तु अङ्ग शब्द से भवानी के कथन का तात्पर्य है—कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार)। शैव-दर्शन का गहन प्रभाव भवानी के चिन्तन पर पड़ा था। उक्त पद्य में शिव-सूत्र की छाया पूर्णरूप से है—**"शरीरं हविः"** (शिवसूत्र २/८) इसी तथ्य को "विज्ञान-भैरव" में भी स्पष्ट किया गया है—

"महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा साकं स होमः स्रुक्च चेतना॥"

---

१. पर्ज़ाने क, ख पाठ।
२. माने क, ग पाठ।

"शून्य से भी शून्य का जहाँ पूरी तरह लय होता है अर्थात् अपने ही आतमस्वरूप की अग्नि में जहाँ मन, पाँच-महाभूत, विषय और इन्द्रिय आहुति बनकर स्वाहा होते हैं और विश्व का अनुसंधान करने वाली शक्ति अर्थात् चेतना (Consciousness) ही जहाँ "स्रुक" [वह चम्मच जिससे आहुति डाली जाती है इसे कश्मोरी में /"**वमोनंहोर**"/ ("होमषाड") कहते हैं] बनकर होम की आहुति डालती है।" वेद में भी इसी तथ्य का साक्ष्य मिलता है—"**चित्तिः स्रुक् चित्तमआज्यम्**" चेतना (Consciousness) ही स्रुक् है और मन ही घी है।

बानं फटंरि तं पानैय् थुरे
कुसु मरि तं कस् लगि दोखं
पानैय् नहावि पानैय् पूरे
कुस् सोरि तं कस् इयि थक्[१] ॥६०॥

व्याख्या

परंब्रह्म की लीला अनन्त और अपार है। वह स्वयं कुम्हार के समान शरीर रूपी घट (घड़े) का निर्माण भी करता है और स्वयं ही अपनी इच्छा से इसे तोड़ भी सकता है। नहीं तो कौन किस को मार सकता है और कौन किस को दुःख दे सकता है। अर्थात् माया से विमूढ़ मनुष्य यह समझता है कि मैंने अमुक (फलाने को) को मारा और दुःख दिया या उसने मुझे मारा और दुःख दिया। यह तो वास्तव में उस सृष्टि-निर्माता की क्रीड़ा है, जिसे हम समझ नहीं सकते हैं। यह परंब्रह्म स्वयं ही नर्त्तक (नाचने वाला) बनकर सृष्टि की लीला करता है और सभ्यताओं और संस्कृतियों का नाश करता है और स्वयं ही सभ्यताओं और संस्कृतियों का निर्माण भी करता है। इस परंब्रह्म का भण्डार अनन्त और विस्तृत है अतः यह कभी समाप्त नहीं होता है और न इसकी निर्माण-क्रीड़ा का कभी अन्त आता है ॥६०॥

---

१. टव्ख क, ख पाठ।

टिप्पणी

उक्त पद्य में भवानी ने परंब्रह्म के विराट स्वरूप का बिम्ब (Image) प्रस्तुत किया है। रूपक के माध्यम से भवानी ने कुम्हार के कर्म और ब्रह्म के कर्म में समानता लाकर इसे सरल रूप में प्रस्तुत किया है। ठीक इसी प्रकार का ज्ञान भगवान कृष्ण ने गीता में माया और ममता से मोहित अर्जुन को दिया—**"निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्"** अरे अर्जुन्। (मैंने इन समस्त कौरवों और इनकी सेना को कब का नष्ट कर दिया है) तू (इनके नाश का) केवल निमित्त-मात्र (Factual cause) बन।

प्रथं जिन्सस् अंशा थंवुन्
अथि कांसि न ज़ीवस्[1] थंवुन
कति ज़न् ओंनुन् ? प्रछ़ंहांसं फीरिथ्
ब्योन[2] बोंयि मिलोवुन स्वतंस् सृत्यं ॥५१॥

व्याख्या

परंब्रह्म ने प्रत्येक प्रकार के बीज का अंश इस सृष्टि में रखा है। अर्थात् अनन्त और भिन्न-भिन्न प्रकार की जीवयोनियाँ, भिन्न-भिन्न प्रकार के अनाज, भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव, रूप, आकार आदि के बीज इस जगत में रखे हैं। किन्तु इन भिन्न-भिन्न प्रकार की सृष्टियों का निर्माण उस परंब्रह्म ने किसी की सहायता से नहीं, अपितु स्वयं अपनी स्वतंत्र इच्छा से किया है अतः कोई भी प्राणी इस रहस्य को जान नहीं सकता है। और न किसी वस्तु का, जिसका अस्तित्व यहाँ नहीं है, निर्माण ही कर सकता है।

सभ्या-भवानी कौतूहल और औत्सुक्य से युक्त होकर कहती है :—परंब्रह्म यह सब कहाँ से लाया अर्थात् अनेक प्रकार के बीज, अनन्त योनियाँ, और भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव ये सब वह कहाँ से लाया ? मैं मुड़कर अथवा लौटकर उस परंब्रह्म से पूछना चाहती

---

१. ज़ीतन् क, ग, घ पाठ।
२. न्यांयुन् क, ख, घ पाठ।
३. गंजन् ग, घ, च पाठ।

हूँ ? सृष्टि के संहार के उपरान्त (अथवा जब यह सृष्टि मिट जाती है) वह किस प्रकार से इन अनन्त और अनेक बीजों, योनियों और स्वभावों को फिर से एक ही तत्त्व में मिलाता है ? यह भी मैं उस भगवान से पूछना चाहती हूँ ।।६१।।

टिप्पणी

वैदिक-युग के ऋषियों के समान ही सभ्या-भवानी की जिज्ञासा उभर उठी है—यह हिरण्यगर्भ किस की इच्छा से स्पन्द में आता है ? यह प्रकृति की भिन्नता कहाँ से आती है और कहाँ चली जाती है ? वैदिक ऋषियों के समान ही मंत्र-मुग्ध होकर भवानी कहती है—**"प्रछ्हांस फीरिथ्"**। (मुड़कर पूछना चाहती हूँ) वैदिक कालीन ऋषि भी इसी तथ्य को गुनगुनाते हैं—

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेना—
था को वेद यत आबभूव ।। ऋग्वेद १०/१२९/६

"कौन मनुष्य निश्चित रूप से जानता है और कौन इस सृष्टि का विवरण बता सकता है ? कौन कह सकता है कि यह विविध प्रकार की सृष्टि किसके आदेश से बनी है ? देवता भी नहीं जानते हैं क्योंकि वे भी सृष्टि बनने के उपरान्त उत्पन्न हुए हैं अतः इस सृष्टि के आरम्भिक रहस्य को वे भी नहीं जानते।"

यिवान पान तं ज़ेवान् पान
रिवान् पान तं निवान् टूख
नाना प्रकार गिन्दान् पानं
रिन्दान् पानं तं हेंवान् पत्थ्

व्याख्या

इस ब्रह्माण्ड में स्वयं परंब्रह्म ही विविध रूप धारण करके स्वयं ही आकर जन्म धारण करता है। स्वयं ही अपने अस्तित्व

से खीझ कर रोता है और यहाँ से चला जाता हैं। यह जो इस ब्रह्माण्ड की अनन्त क्रीड़ा हो रही है। वह सब स्वयं परंब्रह्म ही करता है। स्वयं ही अपार हर्ष से प्रफुल्लित होकर वह इस सब को वह अपने में लय कर लेता है ॥६२॥

टिप्पणी

इस पद्य में गीता के 'विभूति-योग' और 'विश्वरूप दर्शन-योग' दोनों का दर्शन होता है। जब साधक की दृष्टि निर्मल और अबाध बन जाती है तो उसे ब्रह्माण्ड का अस्तित्व और इसकी विविध क्रीड़ाएं उसी परंब्रह्म के स्वरूप में नजर आती हैं। अर्जुन को यह दृष्टि भगवान कृष्ण की अनुकम्पा से कुछ समय के लिए प्राप्त हुई थी। सिद्धाभवानी भी इसी प्रकार की दृष्टि प्राप्त थी।

पेंवान्[१] स्वाद्स् तं यिवान् नाद्स्
वाद्स् अति[२] चाखं[३] छुनं कुनेह[४]
चवान[५] प्याल तं छिवान् पानैय्
वंबान्[६] पानैय् तं दिवान्[७] टूखं ॥६३॥

व्याख्या

यह परंब्रह्म स्वयं ही साधना में प्रवेश करके स्वयं ही नाद और बिन्दु का साक्षात्कार करता है अथवा स्वयं ही साधना की परिपक्वता का स्वाद करता है और स्वयं ही आनन्दमग्न होकर ब्रह्मरन्ध्र की अनाहत ध्वनि का मधुर गुंजार करता है। इस रहस्य की थाह पाना छः दर्शनों (सांख्य दर्शन, न्याय-दर्शन आदि

१. प्यायान् क, ग, घ, पाठ।
२. अर्थ क, ख, पाठ।
३. चास क, ख, ग, पाठ।
४. व्यारय ख, ग, घ, पाठ।
५. दीवान् क, ख, ग, पाठ।
६. ब्बवान् क, ख, च, पाठ।
७. चगन क, ग, घ, पाठ।

छः दर्शन) के बस की बात नहीं है। यह परंब्रह्म ही स्वयं ज्ञान-रूपी मदिरा (शराब) का पान करके स्वयं ही उन्मत्त हो उठता है; स्वयं ही इस सृष्टि का निर्माण करता है और स्वयं ही इसका विनाश भी करता है। अर्थात् यही स्वयं "कर्तुम् अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुम्" (करना, नहीं करना और इनके अतिरिक्त कुछ और ही करना) में समर्थवान है ॥६३॥

टिप्पणी

सभ्या रूपभवानी परंब्रह्म की अद्भुत क्रीड़ा के चमत्कार एवं उसके उत्कर्ष स्वरूप तथा शक्तिमंत्ता को प्रस्तुत करके इस बात का संकेत करती हैं कि भगवान के इस दिव्य अलौकिक प्रभाव को छः दर्शन (सांख्य दर्शन, वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन, योग दर्शन, पूर्व मीमांसा दर्शन, और उत्तर मीमांसा दर्शन) कह नहीं पाते हैं या इन दर्शनों (Philosophies) में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि इस अपार रहस्य को समझ सकें।

रंगिथ रूप[1] द्रायस संगकूय
मोक्तं मंचिथं[2] ग्ञान अकुय
बय् बखचून[3] रोफि, गारान नं कंह
न[5] कुनि बय् न कुनि तं वेहं ॥६४॥

व्याख्या

साधु और सन्तों के संग में बैठकर मैंने अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचाना और आत्मस्वरूप के रंग में अपने आपको पूरी तरह रंगकर मैं इस जगत के माया-मोह के बन्धन से छूट कर बाहिर

---

१. वंय क, ख, घ, पाठ।
२. म्वखचू क, ग, घ, पाठ।
३. बखचू क, ख, पाठ।
४. रोप्यि क, ख, पाठ।
५. "वंय न कूंह ब्वय ताना कूं ब्वह" क, ख, च, पाठ।

निकल आई क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त केवल एक ही ज्ञान बाकी रहता है। कथन का अभिप्राय यह है कि साधक जब अपने सही रूप की परख कर लेता है तो वहाँ केवल यथार्थ ज्ञान ही शेष रह जाता है बाकी सब तुच्छ और व्यर्थ ज्ञान समाप्त हो जाता है। भवानी रूप-दिद्दा को जो जन्म-मरण का भय था उसे अपने ही आत्मस्वरूप ने अनुग्रह करके दूर कर दिया। वे कहती हैं—इस कारण "अब मुझे किसी और वस्तु की खोज नहीं करनी है क्योंकि खोज करने के योग्य आत्मस्वरूप को जानने के उपरान्त बाकी ही क्या बचता है। अब न मुझे जन्म-मरण का भय है और न किसी प्रकार की घृणा अथवा पश्चाताप ही है" ।।६४।।

टिप्पणी

ज्ञान के मार्ग में प्रथमतः कायिक (शरीर की), वाचिक (वाणी की), और मानसिक (मन की) खोट को दूर करना आवश्यक है। साधु-सन्तों के संग से ये तीन प्रकार के मैल मिटते हैं और फिर सही ज्ञान का स्वरूप सामने आता है। ज्ञान की पराकाष्ठा ही निर्भय बनाती है। निर्भय वही बन सकता जो धीर हो—उपनिषद् इसी तथ्य को दोहराते हैं, "कश्चित् धीरा प्रत्यगात्मानमैक्षत्" (कोई विरला ही वीर प्रत्यक्षरूप से अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है) उसके बाद वहाँ न सुख रहता और न दुःख और न ढूँढ़ने के लिए कुछ बाकी रहता है। सभ्या-भवानी इसी कोटि की तपस्विनी हैं।

ध्यान छुख[1] तं आसखं[2] चू़य
ग्ज्ञान गाश तं आसखं चू़य
वेंज्ञान शलाका[3] आसखं[4] चू़य
ओसुखं चू़य तं बेंड़ नं कांह ॥६५॥

---

१. आसख क, ग पाठ।
२. आस-त ख, ग, च पाठ।
३. लाशक ग, घ, च पाठ (विज्ञानाञ्जन शलाका—यह पाठ मार्त्तण्ड पाण्डुलिपि में है किन्तु पिंगलेन्द्र की पाण्डुलिपि में "वेंज्ञान शलका है अर्थात् विशेष ज्ञान का संकेत।)
४. मशख क, ख, ग पाठ।

व्याख्या

हे परंब्रह्म ! तुम ही साकार-ध्यान धारण करके इस ब्रह्माण्ड के अस्तित्व को गृहण करते हो, जब यह साकार जगत मिट जाएगा उस समय भी तुम ही इसके साकार स्वरूप को अपने में लय करके, अपने निराकार अस्तित्व में इसे ग्रहण करके, अपनी सत्ता में विद्यमान रहोगे। तुम ही ज्ञान का प्रकाश बनकर सदा रहोगे। विशेष ज्ञान की सत्ता का संकेत करने वाला तुम्हारा अस्तित्त्व सदा बना रहेगा। इस ब्रह्माण्ड की सत्ता जब नहीं हुई थी, तब भी तुम ही थे। जब यह ब्रह्माण्ड सत्ता में आया तब भी तुम ही थे और जब इस ब्रह्माण्ड का विलय होगा, तब भी तुम्हारा अस्तित्व बना रहेगा ।।६५।।

टिप्पणी

ऋग्वैदिक ऋषियों ने भी इसी तथ्य का स्तवन किया है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

ऋग्वेद १०/१२१

"यह स्वर्णमय अण्डा परंब्रह्म के चित् स्वरूप में सृष्टि बनने से पूर्व भी अस्तित्व में था वही समस्त चराचर सृष्टि को उत्पन्न करने वाला अकेला पति अथवा स्वामी है। उसीने इस पृथ्वी और इस आकाश को अपने में धारण किया है, अतः हम (ऋषि) किस देवता को यह (घी की) आहुति दें।

मोंरं[1] युस् ज़ाले नारैय्
दोड नौं[2] इह संसारूय्

---

१. मंड़ु क, ख पाठ।
२. नौव क, ख, ग पाठ।

दोंड सु ज़ुवे[1] न तं हा मरें
युसूय गाले सांरी आहार ॥६६॥

व्याख्या

जो साधक संसार की निःसारता अथवा इसकी सारहीनता को अच्छी तरह परख कर पहिचानता है वह अवश्य ही ज्ञान-रूपी अग्नि में अपने इस ऐहिक शरीर को जलाकर केवल ज्ञान के प्रकाश से ही जीवित रहता है। वह अवश्य ही परमार्थ तत्त्व पर दृष्टि गाढ़ कर बड़ी दृढ़ता से जीवित रहता है क्योंकि उसकी नज़र मिटने वाले शरीर पर नहीं, अपितु नित्य आत्मस्वरूप पर रहती है। जिनकी शरीर पर नजर रहती है वे मूर्ख भी कितने ही उपाय करने के उपरान्त भी अन्त में मरते ही हैं; लेकिन जो वास्तविक परमार्थ मार्ग का साधक होता है, वह इन नाशवान आहारों को सर्वथा छोड़कर केवल भगवत् ज्ञान का ही आहार करता है और वह क्षणिक भोगों के चक्कर में नहीं पड़ता है ॥६६॥

टिप्पणी

भगवान कृष्ण, गीता में इसी सत्य को समझाते हुए कहते हैं।

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुख दुखदाः" ॥२/१४॥

(अर्जुन ! विषयों के संयोग निश्चय ही क्षणिक सर्दी-गर्मी देने वाले हैं)।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वानिवर्तते ॥२/५९॥

(जो पुरुष इन्द्रियों की आसक्ति से विषयों को ग्रहण नहीं करता है उसके विषय अवश्य ही मिट जाते हैं किन्तु आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करने के उपरान्त ही उसका (साधक का) राग मिटता है) सभ्या-भवानी के कथन का अभिप्राय भी यही है।

सांरी बूग आहारे निराहार
न निन्द्रे आसि न हुशेयार

---

१. ज़िथि ख, ग, च पाठ।

करिथ[1] सारी[2] कर्म नेथं बेकार
नेंथूयं[3] प्रेंज़लेस अहं अवतार ।।६७।।

व्याख्या

सही परमार्थ को जानने वाला यह साधक इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण नहीं करता है। यही कारण है कि सब भोगों का आहार करने के उपरान्त भी यह इन भोगों से अनासक्त रहता है। यह साधक न तो नींद में होता है और न जागृत ही होता है। सारे कर्म करने के उपरान्त भी कर्मों के फल से तटस्थ (अलग) रहता है। ऐसे ही साधक के आत्मस्वरूप में अहं-स्वरूप का अवतार सदा प्रज्ज्वलित होता है ।।६७।।

टिप्पणी

परमसिद्धा भवानी अपनी अनुभूति के द्वारा उच्च-कोटि के साधक की अवस्था का परिचय इस प्रकार से देतीं हैं— (१) इन्द्रियों की आसक्ति (Attachment) के बिना सारे भोगों का भोग करने के उपरान्त भी वह निराहार होता है। (२) यह साधक न तो सोया होता है और न जगा हुआ होता है, अर्थात् यह साधक प्रत्येक क्षण अपने ही स्वरूप में मग्न होने के कारण सांसारिक (Worldly) नींद के वश में नहीं होता है और न यह सांसारिक मोह-माया के कारण उन प्रलोभनों के पीछे जागरूक ही रहता है, जैसे साधारण संसारी मनुष्य हमेशा कामिनी और कंचन (Lust and gold) को प्राप्त करने के लिए जागरूक रहता है। यह तत्त्व ज्ञानी साधक आत्मस्वरूप के परामर्श में मग्न होने के कारण संसार की उपेक्षा करता है। यही कारण है कि यह संसार के प्रति जागरूक नहीं होता है। (३) यह साधक सारे कर्म करने के उपरान्त भी कर्म रहित होता है। साधारण मनुष्य पूजा-पाठ आदि करने के उपरान्त अपने इष्टदेव से फल की इच्छा करता है किन्तु इस प्रशान्त-साधक में कर्म के फल की इच्छा नहीं होती है। यही कारण है कि यह कर्म

---

१. रहिथ् क, ख, ग पाठ।
२. सोरे ग, घ पाठ।
३. रूम-रूम आयि अवतार क, ख, घ पाठ।

करने के उपरान्त भी कर्म रहित होता है। शैव-दर्शन में इन तीनों अवस्थाओं को "भैरवी मुद्रा" कहते हैं "अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः" अर्थात्—आत्मस्वरूप का ज्ञाता केवल अपने आत्मस्वरूप को लक्ष्य (Aim) करके देखता है। बाहिर सब कुछ देखने के उपरान्त भी उन्मेष और निमेष अर्थात् सृष्टि और संहार, नींद और जागरण से रहित होता है।

ध्यानस् मैं चूड़ तं पानस् मैं[1] चूड़
अथ् ग्ज्ञानस् चें मैं नमस्कार
पानैथ पान पर्ज़नावे[2] तं पानैथ वेंचे
न तं अज़न्निस् वेंचोइ जांनिथ् क्या ॥६८॥

व्याख्या

मेरे ध्यान में तेरा ही रूप है मेरी आत्मा में तेरा ही स्वरूप ओतप्रोत है। इस प्रकार के तुम्हारे और मेरे अद्वैत (Non-dual) स्वरूप को नमस्कार हो। आत्मा स्वयं ही परमात्मा के प्रशान्त स्वरूप को अनुभव करके अपार हर्ष मना रही है किन्तु जो अज्ञानी है उसे ज्ञान का साक्षात्कार कराने पर भी कौन सा हर्ष हो सकता है। अर्थात् ज्ञानी अपने परिश्रम से निरन्तर विमर्श एवं चिन्तन करके अद्वैत की परम रसवत्ता (निकटता का आनन्द) पर पहुँचकर अपार हर्ष का अनुभव करता है; किन्तु अज्ञानी को उस अद्वैत की परम-रसवत्ता का साक्षात्कार कराने पर भी उस अपार हर्ष का आनन्द नहीं आता, क्योंकि उसके लिए वह अर्जित (कमाई हुई) वस्तु नहीं अपितु अनायास ही मिली हुई वस्तु है ॥६८॥

टिप्पणी

भवानी के कथन का अभिप्राय यह है निरन्तर योग और अभ्यास करने वाले साधक को आत्मस्वरूप के ज्ञान के उपरान्त प्रशान्त परमात्मा के स्वरूप के साक्षात्कार से अपार हर्ष का अनुभव होता है क्योंकि निरन्तर

१. ब्वह क, ग पाठ।
२. दर्ज़ानि ख, ग पाठ।

योग-अभ्यास तथा चिन्तन के फलस्वरूप जिस श्रम (मेहनत) का फल उसे मिलता है वह अवश्य ही हर्षोन्माद उत्पन्न करता है। किन्तु जिसने बिना किये ही यह अवस्था अनायास प्राप्त की हो उसे कभी भी इस हर्षोन्माद का अनुभव नहीं होता है।

छुह् शाह तं गदा सुय् तंते
पानैय् दातं खसान् पूरे रव्
कुनि गन् र्‌य्पय् कुनि गव् पूरे[1]
फल कुलिनॖय मूरे पानैय्[2] ॥६९॥

व्याख्या

वह परमात्मा स्वयं ही इस ब्रह्माण्ड का सम्राट भी है और स्वयं ही निर्धन भी है। वही पूर्व दिशा में सूर्य के रूप में उदित होकर प्रत्येक वस्तु में स्वयं ही रस भर देता है। वही कहीं थोथा अनाज बनकर प्रकट होता है और कहीं पक्का अनाज बनकर प्राणियों का पोषण करता है। वही परंब्रह्म स्वयं ही वृक्षों में फल के रूप में उभर कर स्वयं ही उनको खाता भी है। कथन का अभिप्राय यह है कि ब्रह्माण्ड की इस अद्भुत क्रीड़ा में ऐसा कोई भी कर्म नहीं है जिसे वह स्वयं नहीं करता है ॥६९॥

टिप्पणी

सभ्या-भवानी के कथन का अभिप्राय यह है कि परंब्रह्म स्वयं ही विभिन्न प्रकार के स्वांग धारण करके विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाएँ करता है। शिवसूत्र में भी इसी तथ्य का संकेत है—

"नर्तक आत्मा" (शिवसूत्र ९/३)—परंशिव ही अपने-अपने स्वरूप में गोपित (छिपे हुए) अनन्त पदार्थ राशि (Objective world) को अपनी ही लीला के स्वरूप से प्रकट करके नृत्य करता है।

१. बूरे क, ख पाठ।
२. ख् क, ग, घ पाठ।

कुनि न[1] तमाहे कुनि न[2] तकांबूरे
शमियुथ[3] सोरे पूरे रव्
पल्[4] पल् पलि तैय् तस् ना मूरे
वांतित् वातेस् पूरे रव् ॥७०॥

व्याख्या

जब साधक को न किसी प्रकार का लोभ रहेगा और न उसमें किसी प्रकार का कृत्रिम अहंकार ही बाकी रहेगा तभी तो उसकी इन्द्रियों का शमन होगा। वास्तव में लोभ पापों की जड़ है और लोभ के कारण ही बुद्धि में विकार आता है। जिसके फलस्वरूप कृत्रिम अहंकार को उभार मिलता है। अतः जब साधक में से ये दोनों अनर्थकारी अंश मिट जाते हैं, तभी इन्द्रियों का शमन (अथवा नियंत्रण) संभव हो सकता है। इन्द्रियों के शान्त होने के उपरान्त साधक के अन्तरतम में चित्-सूर्य का उदय होता है जिसके कारण अन्धकार क्रमशः छटता जाता है। फिर यह साधक प्रत्येक क्षण और हर-घड़ी परमार्थ-साधना के ही ध्यान में डूबा रहता है। इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार से भी संभव है:—उस भक्त अथवा साधक का एक क्षण भी भगवत्-आराधना, ध्यान और नाम स्मरण के रहित नहीं बीतता है और जब साधना की पूर्णता अथवा परिपक्वता आती है तो स्वयं ही ज्ञान का सूर्य उदय होकर उस साधक के आत्मस्वरूप में प्रकाशित होता है ॥७०॥

टिप्पणी

इस पद्य में अलक्ष्येश्वरी भवानी ने पतञ्जलि के योग-दर्शन का संकेत किया है—"शमियुथ सोरे" का अभिप्राय है कि लोभ और अहंकार के

१, २. न क, ख, ग (पाठ में नहीं है)।
३. शमायुथ् क, ख, ग पाठ।
४. पव् पव् क, ख, ग पाठ।

शमन होने के उपरान्त जब यह साधक ("अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः"—पतञ्जलि योगसूत्र) अभ्यास और वैराग्य के द्वारा अपने लोभ और अहंकार का शमन (ख़ातमा) करेगा तो ("पूरे रव्") अवश्य ही आत्मस्वरूप-रूपी पूर्व-के-सूर्य का इस साधक में उदय होगा। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार दूर होता है और प्रकाश फैलता है। उसी प्रकार इस साधक में ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त आत्मस्वरूप का सूर्य उदित होता है और अज्ञान रूपी अन्धेरा दूर भागता है।

अन्तिम पंक्ति "वांतित् वातेस् पूरे रव्" (स्वयं ही पूर्व का सूर्य उसके पास पहुँचेगा) का अर्थ इस प्रकार से अधिक स्पष्ट होता है—"स्वयं ही इस प्रकार के साधक का स्वरूप "द्वादशान्त" पर पहुँच पाता है।" योग-दर्शन में 'रविः' का अर्थ बारह* भी है और अलक्ष्येश्वरी की वाणी में "पूरे रव् (संस्कृ० पूर्ण रविः) का अभिप्राय भी यही है कि इस साधक का स्वरूप ("वांतित-वातेस्") इन्द्रिय शमन होने के उपरान्त अवश्य ही 'द्वादशान्त' पर पहुँच जाएगा।

क्रॆपा करॗन्य युस् पानैय ज़ाने
मनॗय् मारे[1] दॆन् तैय् राथ्
सर्वरूपं ध्याना युस् पर्ज़नावे[2]
प्रकटॆस्[3] रूफ् तं नंन्यस् ज़ाथं ॥७१॥

व्याख्या

जो साधक जगत में आकर इस सत्य से अपने आपको परिचित कराएंगे कि "इस जगत में कोई किसी का उद्धार नहीं कर पाता है, अपितु मनुष्य स्वयं ही अपने आपका उद्धार कर सकता है" वे साधक अवश्य ही प्रशंसनीय होते हैं क्योंकि वे अपने आप पर कृपा करके अपने आत्मस्वरूप का लाभ प्राप्त करते हैं। जो साधक

---

१. माने क, ख पाठ।
२. दर्जाने क, ख, ग पाठ।
३. माने मनि ग, घ, च पाठ।
* क्योंकि सूर्य बारह हैं।—सम्पादक

रात दिन अपने मन को अपने वश में करके आत्मस्वरूप से मन को प्रवाहित करते हैं (अर्थात् अपने मन को अधिकार में रखते हैं) और जो साधक प्रत्येक अणु में (हर एक ज़र्रे में) उसी परंब्रह्म के स्वरूप का चिन्तन करते हैं, उन्हीं सन्तों और तपस्वियों पर वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्रकट होता है और तभी उन सन्तों के तात्त्विक-स्वरूप की प्रसिद्धि प्रकट होती है ।।७१।।

टिप्पणी

भवानी अलक्ष्येश्वरी के स्वानुभव के अनुसार आत्मस्वरूप का साक्षात्कार उन लोगों को प्राप्त होता है जो (क) स्वयं अपने आप पर कृपा करके अपने वास्तविक स्वरूप को खोज निकालते हैं (ख) जो मन को अपने अधीन रखते हैं और (ग) जो समस्त चराचर का उसी परंब्रह्म के स्वरूप में साक्षात्कार करते हैं ।

भगवान कृष्ण भी श्रीमद्‌भगवत् गीता में इसी सत्य को समझाते हुए अर्जुन से कहते हैं---(क) "उद्धरेदात्मनात्मनं"---गीता ६/५" (अपने आपका उद्धार स्वयं करो) (ख) "असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मति"---गीता ६/३६" (हे अर्जुन ! मेरा निश्चय यही है कि जो पुरुष मन को वश में नहीं करते हैं, योग की अवस्था को प्राप्त करना उनके लिए कठिन है) ; (ग) "यो मां पश्यति सर्वत्र"---गीता ६/३०" (हे अर्जुन ! जो समस्त चराचर में मुझे ही देखता है) ।

युस् रूप तारि तं दीफ संदारे
नाथ छु नं[1] ब्योन् तं वेंचारे मन
कोंह मॖदि तं कोंह बेमारे
कांसि ग्ञानं खॖरे तरॖन् नाव् ।।७२।।

व्याख्या

जो साधक अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकता है

---

१. "नाथ सुह नृप" ग, घ पाठ, "नाथ युस् विचारे" क, ख पाठ नाथ छुनं ब्योन् तं मार्तण्ड एवं पिंगलेन् पाण्डुलिपि ।

वही प्रज्ज्वलित दीपक जैसी अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है। अथवा जो साधक शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के मोह से ऊपर उठ जाएगा वही अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। जो साधक सदा अपने मन में इस सत्य का विमर्श करेगा कि "परंब्रह्म आत्मा से भिन्न नहीं हैं। अर्थात् आत्मा ही जीव में होने के कारण संकोचित् परंब्रह्म का स्वरूप हैं" वही आत्मस्वरूप को प्राप्त करेगा। जिन लोगों को इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ हो अथवा जिन लोगों ने अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा इस, ऊपर कहे हुए, सत्य को नहीं ढूँढ़ा हो, वे ही लोग जीवित होने के बावजूद भी मरे हुए हैं ; और कुछ बीमार होकर कराह रहे हैं। जिस प्रकार मरा हुआ आदमी कुछ कर नहीं पाता है और बीमार आदमी कुछ कर नहीं सकता है ऐसी ही दशा इन लोगों की भी है। अतः इस जगत में कोई विरला ही साधक ज्ञानरूपी चप्पू (नाव चलाने का "चर्पू"-डाँड़) के सहारे अपनी शरीर-रूपी नौका को इस अगाध-भव-सागर के पार ले जाता है—अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है ॥७२॥

टिप्पणी

"कैंह मूृदि तं कैंह बेमारे" इन पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार से भी सम्भव हो सकता है—इन प्रलोभनकारी शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध के चक्कर में पड़कर कितने ही मनुष्य मर गये किन्तु कभी भी इन्हें आत्मशान्ति प्राप्त नहीं हुई और कुछ तो जीवित होकर भी इनके दास बन कर, मानो इसी बीमारी के शिकार हुए हैं। अन्तिम पंक्ति उपनिषद् के इस कथन से कितना साम्य रखती है—

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्त चक्षुरमृतत्वमश्नन् (कठोपनिषत् २/४/२)

(कोई विरला ही धीर और वीर साधक इन्द्रियों को निम्न करके आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करता है और अमृत का आस्वादन करता है)।

माता रूपी सु मोंदुर दाम पेंव्
अव्छं तपस्याङ् मद मोदुर पेंव्
द्रेंडा[2] कडेंथ्[3] तं रूपस निश[4] पेंव्
र व्[5] खोतं लेनं बोवंनन् वोत् ॥७३॥

व्याख्या

मुझ रूपभवानी का अविभाव अपने भक्त की इच्छा के कारण हुआ है इसी तथ्य को स्पष्ट करती हुई अलक्ष्याभवानी संकेत-सूत्र में कहती हैं—

शारिका माता के अपने अभिन्न (Integral) स्वरूप का ही एक मधुर घूँट मेरे स्वरूप में अवतीर्ण हुआ परन्तु अंशात्मक स्वरूप होने के कारण माया के आवरण (ढकाव) ने मेरे इस स्वरूप को शुरू-शुरू में ढाँप लिया। किन्तु जब चेतना का उन्मेष (ज्ञान) मुझमें हुआ तो मैंने अपने विस्मृत स्वरूप को अपनी अखण्ड तपस्या की मीठी मदिरा (शराब) से अन्तः चैतन्य में जाग्रत किया। इस प्रकार वे दृढ़ भाव से साधना तथा चिन्तन करने के उपरान्त मैं अपने वास्तविक स्वरूप (शारिका स्वरूप) के निकटतम पहुँची। अब मेरा आत्म-स्वरूप-रूपी सूर्य उदित होकर तीनों भवनों (अर्थात् भूः, भवः, स्वः) में प्रकाशित हुआ है। कथन का आशय यह है कि मैं पुनः शारिकामाता के चक्रेश्वरी स्वरूप में पहुँच चुकी हूँ ॥७३॥

---

१. तथ क, ख पाठ।
२. दडा क, ख पाठ।
३. चडेथ क, ग पाठ।
४. केवल मार्तण्ड और पिंगलेन् पाण्डलिपि में उपलब्ध।
५. ख् रूपी त्रिबाविन (क, ख, ग पाठ। "रव् खोत लेंनं बोवंनन् बोत" मार्त० एवं पिंगलेंन् पाठ)।

अन्द्र वुख् तैय् नैबर् स्यदी
वुज़वुख्[1] नाग ज़ागिरूदि तती
कैंह बेमारि रौस्तूय मूदीय
कैंचन् व्योद[3] गव् नं रूदीय तति ॥७४॥

व्याख्या

कुछ असाधारण साधक अथवा सन्त बाहरी दिखावे से रहित सदा अपनी अन्तरात्मा के ध्यान में मग्न रहते हैं किन्तु बाहरी व्यवहार में साधारण मनुष्यों के समान व्यवहार करते हैं। अर्थात् इस बात में जरा भी सन्देह नहीं होता है कि वे पहुँचे हुए सन्त हैं। इस अवस्था के साधक आत्मस्वरूप-रूपी सरोवर को अन्तर ही अन्तर में खोदकर, अद्वैत अमृत के जल को पीने में सदा ही जागरूक रहते हैं। कुछ सन्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की बीमारी से अनछुए रहकर इस जगत से कूच कर जाते हैं। अर्थात् ये विमोहन करने वाले इन प्रलोभनकारी तन्मात्रों[4] के चक्कर में नहीं पड़ते हैं। कुछ-एक साधक निरन्तर अभ्यास करने के उपरान्त भी आत्मस्वरूप के ज्ञान की थाह नहीं पाते हैं, अतः वे साधनावस्था में ही रहा करते हैं ॥७४॥

टिप्पणी

"वुज़वुख नाग जागिरुदि तती"—इस पंक्ति का अर्थ लक्ष्यार्थ की दृष्टि से इस प्रकार से भी स्पष्ट होता है—"अर्थात् कुण्डलिनी-शक्ति को जागृत करके उसी की जागरूकता में ध्यानस्थ होकर रहते हैं।" कुण्डलिनी का बायाँ कुण्डल इला है और दाहिना कुण्डल पिंगला है। इनके बीच

१. वुदिख क, ख, घ पाठ।
२. जागुख ख, ग, घ पाठ।
३. विदुनत क, ख, च पाठ।
४. शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध।

सुषुम्ना नाड़ी का प्रवाह है । चित्रिणी नाड़ी से होकर ही कुण्डलिनी शक्ति का रास्ता प्रवाहशील बनता है ।

ना नमुस् न कदाचित् नमनु
नेंथ् मोंन येंभ्य सदा सर्वदा
गाशि[1] रूपं जगि अन्तर रमुन्
तांथि नमुस् सूय् गव् नमुन् ॥७५॥

व्याख्या

जिन साधकों ने परंब्रह्म को नित्य और हर-एक में व्याप्त माना है वे साधक बाहरी दिखावे के लिए न तो झुकते हैं और न भविष्य में किसी कारण से उन्हें झुकना ही पड़ता है । नमस्कार में झुकना पैरों पर पड़ना आदि तो स्थूल पूजा के क्रम हैं किन्तु तत्त्ववेत्ता साधक अपने आत्मस्वरूप के प्रकाश में, रोज़ जागरण की अवस्था में रह कर, परमात्मा के साथ क्रीड़ा करके, उस स्वरूप के सामने ही झुकता है अर्थात् उसे प्रणाम करता है । उस स्वरूप की अवस्था में प्रणाम करना ही वास्तव में प्रणाम करना कहलाता है ॥७५॥

टिप्पणी

वास्तव में प्रणाम करना, झुकना आदि कृत्यों में सांसारिकता ही अधिक रहती है पारमार्थिकता कम । क्योंकि मनुष्य अधिकतर बाहिरी प्रदर्शन (दिखावे) ही करता है । अतः नमस्कार आदि के करने से आत्म-बोध का उदय सम्भव नहीं है । इसीलिए तो ये व्यर्थ हैं । किन्तु जिन सन्तों को आत्मस्वरूप के विकास में स्वयं परंब्रह्म का स्वरूप मिल गया हो, वे यदि नमस्कार भी करते हैं, अथवा झुकते हैं, तो यह वास्तविक नमस्कार कहलाता है ।

---

१. आकाश क, ख, ग पाठ ।

पद्र ह्यथि तैय प्रवथ् छुअं मंगान्
अंगन अंगन् श्रपान्[२] सु[३] रुफ
अग्न कोण्ड युथ ज्ञन्[४] संदारे
अम्रेत सु दारान् पेंवान इह्[५] दीह ।।७६।।

व्याख्या

साधक ज्योंही परमार्थ मार्ग (परमात्मा की तरफ) की ओर उन्मुख होता है अथवा ज्यों ही साधक परमार्थ के पद को ग्रहण करता है त्योंही परंब्रह्म उस साधक की समस्त प्रवृत्तियों को अपने में लय कर लेता है और साधक को अपने अलौकिक प्रकाश से प्रकाशित कर देता है ; जिसके फलस्वरूप साधक के रोम-रोम में अपने आतमस्वरूप का प्रकाश छा जाता है । इस साधक का अन्तः ज्ञान जलते अग्निकुण्ड के समान हो जाता है, जिससे इसके 'तीनों मल'[६] जल जाते हैं और अन्त में अपने आतमस्वरूप रूपी अमृत का साक्षात्कार करके इस साधक को अपने शरीर की सुध-बुध नहीं रहती है । अर्थात् शरीर का कहीं आभास भी नहीं रहता है ।।७६।।

टिप्पणी

साधना के क्षेत्र में जो भी साधक, निष्काम बनकर, चला जाता है अवश्य ही भगवान् स्वयं उसका मार्गदर्शक (राह दिखाने वाला) बनकर उसे अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है ।

---

१. पाद क, ख, ग पाठ ।
२. श्रप्योम् ख, ग, घ पाठ ।
३. केवल मार्तण्ड पाण्डुलिपि में ।
४. केवल मार्तण्ड एवं पिंगलेन् पाण्डुलिपि में ।
५. केवल मार्त० एवं पिंग० पाण्डलिपि में उपलब्ध ।
६. आणवमल (शरीर का मैल), मायामल (भेद का मैल) तथा कार्ममल (कर्मों का मैल) ।

पान[1] यॆम्य ज़ोन सु बॆयन् संवारे
निश् काठस् तारे च़न्दन् बोय्
काठ् युथ् बोय् ह्यथि च़न्दन् दारे
हसज़ूड़ गारि तं नन्यॆस् ज़ाथ् ॥७७॥

व्याख्या

जिस साधक ने अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लिया हो वह कभी भी "स्वान्त: सुखाय" (अपने ही आनन्द) तक ही इस पारिमार्थिक लाभ को सीमित नहीं रखता है। अत: जो भी लोग उसके पास आते हैं, वे भी उसके ज्ञान, ध्यान, दर्शन से लाभान्वित होते हैं। जिस प्रकार चन्दन वृक्ष के पास रहने से कोई भी पेड़-पौधा चन्दन की सुगन्धि से महक उठता है। उसी प्रकार मूर्ख और अज्ञानी भी उस साधक की संगति से गुणवान (अच्छे) बन जाते हैं। जो साधक अन्त: स्वरूप में सहजावस्था की क्रीड़ा (खेल) करने के उपरान्त सूखी और रसहीन लकड़ी के समान अज्ञानी जनता को चन्दन के समान अपनी पारमार्थिक खुशबू से लाभान्वित करता है (फायदा पहुँचाता है) वही साधकों और सन्तों में श्रेष्ठ है ॥७७॥

टिप्पणी

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने प्रत्यभिज्ञादर्शन के आरम्भ में इस तथ्य पर बड़ा ही बल दिया है—"जनस्याप्युपकारमिच्छन्" (इस प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के निर्माण का प्रयोजन यही है कि सामान्य जनता का भी इससे उपकार हो)। अलक्ष्येश्वरी उसी को वास्तविक सन्त और साधक मानती है जो अपने ज्ञान से सामान्य जनता का भी उपकार करता है। ऐसा सन्त और साधक सबसे श्रेष्ठ होता है। **भवानी के मन में लोकहित की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी।**

---

१. पान सुह मानि तं क, ख, घ पाठ।

दाथ् चालि तं क्याह् वेंचारे
मन्[1] मारे तैय् संदारे पान्[2]
बीदं[3] गालिथ् अम्रंत तारे
युथं ह्युव्[4] रुफ क्या वेरे[5] आव ॥७८॥

व्याख्या

जब यह साधक इस संसार के सारग्राही धातु (वह धातु जिसका कभी नाश नहीं होता है) अर्थात् परब्रह्म रूपी अपने स्वरूप की धातु के ध्यान में डूब जाता है तब फिर वह अपने स्वरूप के अतिरिक्त किसी भी बात का विचार नहीं करता है । वह अपने मन को वश में करके केवल अपने आतमस्वरूप के उद्धार में ही रात दिन लगा रहता है । वह भेद (Duality) को मिटाकर केवल अहं परामर्श के अमृत के पान करने में ही लगा रहता है । अन्त में इस साधक को अद्भुत और अलौकिक स्वरूप का साक्षात्कार होता है ॥७८॥

टिप्पणी

गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की स्थिति का बोध देते हुए कहते हैं—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थमनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्ठः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥२/५५॥

(हे अर्जुन ! जो साधक मन की सब कामनाओं को छोड़कर आतम-स्वरूप से आतमस्वरूप में ही आनन्दमग्न रहता है वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है) अलक्ष्येश्वरी भी अपने प्रवचन में इसी अवस्था के साधक एवं सन्त का संकेत करतीं हैं ।

---

१. पान क, ख, ग पाठ ।
२. व्यय ख, घ, च पाठ ।
३. ब्यह् क, ख पाठ ।
४. युय् क, ख, ग पाठ ।
५. वारिय क्याह क, ख, ग पाठ ।

अरपोवुम्[1] इह्[2] जन्मं चेंदानन्दस्
हंस दारं रव् रोंगुम्[3] स्वरूफ
क्रेंपा ग्ञानं सूति प्रकाश[4] कोरुन्
दंर्म सूति रटुम[5] निरालम्ब रुफ ॥७९॥

व्याख्या

मैंने यह जन्म लेते ही अपने इस पिण्ड-शरीर को चित्-रूपी आनन्द को अर्पित कर दिया। अर्थात् मैंने किंचित् भी मोह-ममता इस शरीर के निमित्त नहीं रखी। प्राणायाम के द्वारा अनाहत शब्द को जगाकर हंसद्वार अर्थात् तुरीयावस्था (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से परे वह अवस्था जहाँ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है) में अपने आत्मस्वरूप को रंगकर वास्तविक ज्ञान को प्राप्त किया। अपने से अभिन्न आत्मस्वरूप ने कृपालु: होकर मुझे वास्तविक और विस्तृत परंब्रह्म के प्रकाश का वरदान दिया और मैंने धर्म के सहारे उस अपने से अभिन्न आकारहीन विराट-स्वरूप को अपने स्वरूप में स्थापित किया (बिठाया) ॥७९॥

टिप्पणी

अलक्ष्येश्वरी भगवती अपनी साधना का संकेत देती हुई कहतीं हैं कि शरीर का मोह छोड़कर मैंने अष्ठाङ्ग योग-साधना के द्वारा हंसद्वार को खोल कर अपने ही स्वरूप में परंब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार किया।

यति कुनि वुछुम् तति पानैय्
पानैय्[6] रटुम् सर्वद्यानं रुफं

१. अर्पाविथ क, ख, ङ पाठ।
२. केवल मार्त० और पिंग० पाण्डुलिपि में प्राप्त।
३. रग क, ख, घ पाठ।
४. कारुन क, ग, ग पाठ।
५. केवल मार्त० और पिंग० पाण्डुलिपि में प्राप्त।
६. सर्वधानूय् रटुमस् रुफ क, ख, ग पाठ।

दीप प्रकाश तीज़ ख् पानैय्
मेंज़ोन[1] पानैय् दितंमस् में छ़ोह् ॥८०॥

व्याख्या

इस अखण्ड ब्रह्माण्ड में जहाँ भी मैंने देखा अथवा जिस किसी रूप को देखा ; उन सब रूपों में उसी का एक अखण्ड स्वरूप झलक रहा था। यही कारण है मैंने उस सर्वव्यापी परंब्रह्म का स्वरूप विश्वात्मा के स्वरूप में ग्रहण किया। वह परंब्रह्म स्वयं ही दीपक है और दीपक से छूटने वाला प्रकाश भी वही स्वयं है। वही अपने अपार तेज से शब्द-ब्रह्म बनकर इस जगत का व्यवहार करता है। मैंने उसके विश्वात्मा स्वरूप का अपने आत्मस्वरूप में दर्शन करके उसी में अपने आपको विलीन कर दिया ॥८०॥

टिप्पणी

गीता में श्री कृष्ण आत्मसंयम-योग समझाते हुए अर्जुन से कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति
तस्याहं न प्रणश्यामि सच मे न प्रणश्यति ॥६/३०॥

(जो मुझे प्रत्येक अणु में देखता है और सब मुझ में ही अर्थात् आत्म-स्वरूप में ही देखता है उस साधक के लिए मैं ओझल नहीं होता हूँ और वह मुझसे ओझल नहीं होता है) अलक्ष्या-भवानी भी इसी विश्वरूप दर्शन का वर्णन करहीं हैं।

ग्ञान आकाश वांणी नेंर्वाण
पानैय सहाय थानं थानैय् छुय्

---

१. म्य ज़ा न्यौव सुह जि म्याने छ़ुह क, ग, घ, ङ पाठ।

आराम ही राम बोलो पावन्[1]
बु[2] तं बेंइ् मेंमंज़ छुय हा इ्ह् ॥८१॥

व्याख्या

वह अपने से अभिन्न परंब्रह्म ही ज्ञान, आकाश (शून्य) और मोक्ष में छाया हुआ है। वही स्वयं प्रत्येक स्थान पर सहायता करने वाला भी है—अथवा वही परंब्रह्म मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और अज्ञाचक्र के छः स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूपों से विराजमान होकर योग-साधना में लगे हुए साधक की सहायता करता है। भवानी अलक्ष्येश्वरी अपने स्वरूप को उद्‌बोध देती हुई कहतीं हैं:—मेरे आत्मस्वरूप ! पवित्र राम-नाम का स्मरण कर क्योंकि मैं और वह परंब्रह्म वास्तव में मुझ में ही है, अर्थात् मेरे ही आत्मस्वरूप से मुझ में ही वह निवास कर रहा है ॥८१॥

टिप्पणी

उक्त पद्य में "पानैय् सहाय थान थानैय छुय्" के संदर्भ में दर्शनीय है कि मूलाधार का देवता ब्रह्म है, स्वाधिष्टान का देवता विष्णु है, मणिपूर का देवता रुद्र है, अनाहत का देवता ईश है, विशुद्धि का देवता सदाशिव है और आज्ञा का देवता शम्भु है किन्तु भवानी अलक्ष्येश्वरी के कथन का अभिप्राय है कि वास्तव में वही एक परंब्रह्म "एकोऽहं बहुस्याम्" के न्याय के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में स्वयं ही इन स्थानों में विराजमान है।

शये आयेंस् शये छस्
मरे[3] पान् बेंयें छस्

१. पवन् क, ख, ग पाठ।
२. ब्वह् ब्बय ता म्यानिय छ्यु यह्, क, ख, ग पाठ (ऊपर का पाठ मार्त० और पिंगले० पाण्डुलिपि का है)।
३. लये क, ग, घ पाठ।

नीरिथ् तं गच्छ़ान् फीरिथ् इवान्
मीलिथ् पानस् अकांय्[2] छस ॥८२॥

व्याख्या

मेरी सृष्टि (जन्म) अपार आनन्द के फलस्वरूप हुई और मेरी स्थिति (इस जगत में रहना) भी आनन्द से ओत-प्रोत है। जब मेरा संहार हुआ तब भी मैं बनी रही अर्थात् संहार से मेरा नाश नहीं हुआ। मेरा विलय भी एक अलौकिक क्रम है अर्थात् अपनी ही इच्छा से मैं कभी बीज रूप में स्थित रही, कभी वृक्ष के रूप में स्थित रही। अर्थात् यह आरोहन (चढ़ना) और अवरोहन (उतरना), कभी बीज से वृक्ष के रूप में होना और कभी वृक्ष से बीज के रूप में होना, यही मेरा चमत्कार है। कथन का आशय यह है कि विलय की अवस्था में मेरा स्वरूप सुरक्षित रहता है और अन्ततः अन्तिम अवस्था में अर्थात् अनुग्रह की अवस्था में ; मैं स्वयं अपने पर अनुग्रह करके अपने से अभिन्न आत्मस्वरूप में लीन हो जाती हूँ ॥८२॥

टिप्पणी

कश्मीरी-शैवदर्शन में शिव की पाँच अवस्थाएँ हैं। इन्हे पंचकृत्य भी कहते हैं। ये अवस्थाएँ इस प्रकार से हैं—(१) सृष्टि, (२) स्थिति, (३) संहार, (४) विलय, (५) अनुग्रह। शेष दर्शनों में सृष्टि, स्थिति और संहार तक ही सीमा निर्धारित है किन्तु शैवदर्शन में संहार का अर्थ नाश नहीं है अपितु बहिस्थित को पुनः अन्तर्स्थित करना है। विलय की अवस्था अन्तःस्थित को विशेष प्रकार से लय करना है और अनुग्रह की अवस्था परशिव की अभिन्न अवस्था है। इसे शैव-दर्शन में शक्तिपात भी कहते हैं। यह अवस्था "कदाचित्, कस्यचित्, कुत्रचित्, अकस्मात् (कभी, किसी को, कहीं, स्वयं ही) साधक को उपलब्ध होती है।

पंचकृत्य की विवस्था पद्य में इस प्रकार वर्णित है—

---

१. दयुय ख, ग, च पाठ।

(१) सृष्टि—"शये आयस्" (अपार आनन्द से सृष्टि हुई ।)
(२) स्थिति—"शये छस्" (आपार आनन्द से स्थिति में हूँ ।)]
(३) संहार—"मरे पान" (अपार संहार की दशा में हूँ ।)
(४) विलय—"नीरिथ् तं गच्छ़ान्" (अपार विलय की दशा में हूँ ।)
(५) अनुग्रह—"मीलिथ् पानस् अकांय छस्" (आनन्द पूर्ण अनुग्रह की दशा में पुनः उसी एक स्वरूप में स्थित हूँ ।)

नाद बेन्द पद्‌ छि परम्
मद्वय[1] मांरिथ्[2] प्रकट्वय्[3] छिस्
वेंष्णु ब्रेंह्मा तं महेश्वरा
क्रेष्ण बेंड्‌ शामंसोंन्दुर छुस् ॥८३॥

व्याख्या

निस्संदेह नाद और बिन्दु के पद महान् अवस्था और उपलब्धि के स्थान हैं किन्तु इन्हें प्राप्त करना दुर्लभ और कठिन नहीं है क्योंकि यदि साधक अपने कृत्रिम (Vain) अहंकार को पूरी तरह वश में कर सकता है तो नाद और बिन्दु स्वयं ही उसके सामने प्रकट होते हैं। उसके उपरान्त तीनों कारण—ब्रह्मा, विष्णु और शिव, तथा अन्य अवतारों की अनन्त परम्परा (राम कृष्ण आदि) स्पष्ट रूप से सामने प्रकट होते हैं। अर्थात् साधक विश्व-चेतना और ब्रह्माण्ड-चेतना से प्रफुल्लित हो उठता है ॥८३॥

टिप्पणी

वायवी-संहिता में नाद और बिन्दु का उल्लेख इस प्रकार से दिया है—

आसीद्बिन्दुस्ततो नादो नादाच्छक्तिसमुद्भवः
नादरूपा महेशानि चिद्रूपा परमा कला ॥

(वायवीय-संहिता)

---

१. मदुय क, ख, ग पाठ ।
२. मांरि ख, ग, घ पाठ ।
३. फतुकुय क, ग, घ पाठ ।

(सृष्टि के आरम्भ में पहले बिन्दु का अस्तित्व था फिर नाद की सृष्टि हुई। नाद से फिर समस्त ब्रह्माण्ड की शक्ति (Energy) का विकास हुआ। अतः विश्व-चेतना की सर्वोच्च कला नाद रूप ही है) भवानी ने नाद और बिन्दु को शिव-शक्ति के स्वरूप में ग्रहण किया है।

गोम्[1] औवतार सु महादीव
सु हा बु हा सूय अंख् छु
पूरा तोले तं रामा बोले
ब्रह्म स्वामी पानैय मन्दोरे छुअं
इ़ह कैंह कांछि तीह कैंह दिये
दुकान त्रेपिथ् समुद्रय छस् ॥८४॥

व्याख्या

वे परम कृपालु महादेव मेरे ही स्वरूप में स्वयं अवतीर्ण हुए हैं। वे और मैं वास्तव दो नहीं अपितु एक ही हैं। यही कारण है कि मैं ब्रह्म-स्वरूप रूपी भवन की चोटी में पूर्ण-स्वरूपिणी बनकर राम-नाम का उच्चारण कर रही हूँ। अब मेरी इच्छा निर्बाध और स्वतन्त्र है। अतः मैं जिस किसी वस्तु की आकांक्षा करती हूँ। वही तत्क्षण उपस्थित होती है। माना मैं शरीरधारी हूँ; किन्तु मेरा शरीर उस दुकान के समान है जो अपने सामान (अथवा सामग्री) रूपी अन्तः ज्ञान से पूरी तरह भरपूर है। अतः बाहिरी सामान (अथवा सामग्री) रूपी काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ को इस शरीर रूपी दुकान के अन्दर रखने की जरा भी गुँजाइश नहीं है। कथन का अभिप्राय यह है कि बाहिरी प्रलोभन मेरे लिए बाधक नहीं बन सकते हैं; क्योंकि मैं बूँद की इकाई होने पर भी वास्तव में सागर हूँ ॥८४॥

---

१. राम औवतार ङ पाठ।
२. छुह ख पाठ।

दिशान् तं दीशन् ग्वारान्[1] आयेस्
निश्[2] में अनुम शिवालयस्[3]
छल् लोंद् चर्कस् कल आयि नशान्
इम्[4] शनंवैय् पूरं मशान् आयि ॥८५॥

व्याख्या

मैं उस अपने से अभिन्न (जो मुझ से अलग नहीं है) आत्म-स्वरूप को भिन्न-भिन्न प्रकार के देशों एवं दिशाओं में ढूँढ़ती रही । अर्थात् तीर्थों की यात्रा और भिन्न-भिन्न प्रकार के मन्दिरों में उसे ढूँढ़ती रही किन्तु कहीं भी उसका साक्षात्कार नहीं हुआ अन्त में ; मैं अपने ध्यान एवं अपनी साधना को अपने ही कल्याणकारी घर (शिव=कल्याण, आलय=घर,=कल्याणकारी घर) के निकट लाई । फिर क्या था—ज्योंही मन को साधना के यन्त्र पर चढ़ाया त्योंही माया-मोह विस्मृत (भूलने) होने लगे । अर्थात् ज्योंही मैंने पनचक्की के यन्त्र-रूपी मन को साधना रूपी चक्की पर चढ़ाया त्योंही इदन्ता (Objective world) का आभास मिटने लगा और उसके उपरान्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और मन ये छः पूर्ण रूप से विस्मृत होने लगे । अतः इनके विस्मृत होने के उपरान्त स्वयं आत्मस्वरूप जाग गया ।।८५।।

टिप्पणी

भवानी अलक्ष्येश्वरी ने सुन्दर रूपकालंकार की शैली में "छल्-लोंद चर्कस् कल आयि मशान्" की अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है—छकाने वाले मन को ही खराद पर चढ़ाया तो उसका सारा मैल उतरता गया और अन्त में निर्मल होकर उसका स्वरूप आत्मस्वरूप में निखर उठा ।

---

१. हैरान् क, ख पाठ ।
२. निशान क, ग, घ पाठ ।
३. शुन्यालय क, ख, ग पाठ ।
४. (a) यिमन् शनमानि द्रशान् ब्वय ङ, च पाठ, (b) इम शनवय् सानी वुषार क, ख, ग पाठ (ऊपर का पाठ मार्त० एवं पिंगलेन् तथा घ, पाठ से लिया गया है) ।

छु नं कुने छु ना कुने ?
वुछ्नं ओर न योड् न कुने
दिस्[1] फ्युर्[2] तलें[3] मूल नं कुने
छिवैय् ज़ीतन् स्वरितोन् कुने ॥८६॥

व्याख्या

उस परंब्रह्म का साकार रूप कहीं भी नहीं है। क्या कहीं भी उसका साकार स्वरूप नहीं मिल रहा है। अरे तुम सावधान मन से देखो ; न तो उसका साकार रूप इस ओर है न उस ओर है। तुम शास्त्रों के पन्ने उलटते जाओ। कहीं भी इस प्रकार का प्रामाणिक शास्त्र नहीं है जो उसके साकार स्वरूप को बाँध सका हो अथवा (समझा सका हो) अथवा इस अश्वत्थ-नामक वृक्ष की मिट्टी को कितना ही खोदो इसका मूल कहीं भी तुम्हें नहीं मिलेगा। अन्त में अलक्ष्येश्वरी कहतीं हैं :—अरे ! अगर तुम चेतना (Consciousness) से युक्त प्राणी हो तो अपने ही आत्मस्वरूप में कहीं उसे खोज निकालो ॥८६॥

टिप्पणी

उक्त पद्य में अभेदवाद का अखण्ड स्वरूप प्राप्त होता है। भवानी के कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि मनुष्य खण्ड-सत्य को लेकर ईश्वर का अनुसन्धान करता है। परन्तु परंब्रह्म खण्ड सत्य नहीं है अपितु अखण्ड सत्य है। उसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। यह आदि, मध्य और अन्त उसी में ओत-प्रोत है। अतः उस परंब्रह्म को यहाँ-वहाँ खोजना व्यर्थ है वह तुम्हारे ही आत्मस्वरूप में विद्यमान है।

१. दिय् क, ख, ग पाठ।
२. फश् ग, घ, ङ पाठ।
३. तेल क, ग, घ पाठ।

ओरं ति ज़ीवा योरं ति ज़ीवा
ज़ीवस् ज़ीवा रस ख्यावान्
युस् छुअं नाना रंग पानं ख़ान्[1]
सुयि छुअं प्रथ्कुनि पानं वातान्[2]
चौंन् म्योंन् लोन ब्योंन् ब्योन् तैय्
न[3] तं चौंन् म्योंन् अकुय् आसानूय् ॥८७॥

व्याख्या

इस ओर तो स्वयं शिव है ही, उस ओर भी स्वयं ही शिव है। शिव ही शिव को रसात्मक अनुभूति का आस्वादन करा रहा है। जो शिव स्वयं ही अपने अभेद (Non-dual) स्वरूप को अपनी मधुर इच्छा से भेदों में बाँटकर सब में स्वयं ओतप्रोत रहता है, वही शिव, अपने ही स्वरूप से, सबों का पोषण करता है। माना, भेद (Duality) के कारण तुम्हारा और मेरा भाग्य अलग-अलग है किन्तु परमार्थ की दृष्टि से तुम्हारा और मेरा (अलक्ष्येश्वरी और शिव का) स्वरूप एक ही है ॥८७॥

टिप्पणी

इस पद्य में भवानी अलक्ष्येश्वरी ने सामान्यतः सारे शैव-दर्शन के चिन्तन पक्ष को सूत्र शैली में गर्भित कर दिया है। इस कारण इसे विस्तार से समझना होगा—

शैव-दर्शन में शिव और जीव (नर) में कोई मौलिक भेद नहीं है क्योंकि "शिव-शक्ति-नर" वास्तव में एक ही स्वरूप के विकास हैं। शिव

१. ख़्वनु क, ख, ग पाठ।
२. वातवनु क, ग, च पाठ।
३. नतं रानु सानुय अकुय तय ग, घ, ङ अकुय ब्वय् क, ख पाठ। (मार्त्तण्ड एवम् पिंगलेन् पाण्डुलिपि में ऊपर का पाठ है।)

ही नर (मनुष्य) के स्वरूप अथवा अवस्था में स्वयं आकर संकोचित व्यवहार करता है। शिवत्व में शिव की शक्तियाँ असीम और निर्बाध रहतीं हैं। किन्तु नरत्व में आकर ये असीम शक्तियाँ संकोच के कारण, कला, विद्या, राग, काल और नियति में बदल जातीं हैं। किन्तु जब पुनः जीव आत्म-विमोहन (अपने खोए हुए स्वरूप) से छूटता है तो वह स्वयं शिव बनकर शिवत्व का यज्ञ करता है ("शिवोभूत्वाशिवं यजेत्") यही अभिप्राय भवानी का इस पंक्ति में है "ज़ीवस् ज़ीवा रस् ख्यावान" जीव ही शिव बनकर शिव का यज्ञ कर रहा है।

शिव ही स्वयं अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से इस ब्रह्माण्ड के असीम वैविध्य (Objective world) का निर्माण करता है किन्तु यह विविधता जगत बनने से पूर्व ही उस परम शिव में विद्यमान रहती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मोर के अण्डे में मोर के सारे रंगों का सूक्ष्म रूप पहिले से ही बीज-रूप में होता है और सेने के उपरान्त इनका विकास होता है। भवानी की दूसरी पंक्ति का आशय यही है।

शैव-दर्शन के अनुसार शिव ही शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया आदि छत्तीसवें तत्त्व तक (अर्थात् पृथ्वी तत्त्व तक) स्वयं अपना प्रसार करके इस विश्व का विस्तार करता है। अतः जो शिव-तत्त्व शक्ति में है वही शिव-तत्त्व पृथ्वी-तत्त्व में भी है। इसी आशय को स्पष्ट करती हुई भवानी कहती है, "सुयि़ छुअ् प्रथ्कुनि पानं वातान्" (वह स्वयं ही प्रत्येक तत्त्व में विद्यमान है)।

शैव-दर्शन में शिव की पाँच अप्रतिहत-शक्तियाँ (Spontaneous freehold) हैं, किन्तु जीव की ये शक्तियाँ कला, राग, विद्या, काल और नियति के संकोच (Limit or control) में रहती हैं। अर्थात् कोई एक कला सीख सकता है, किसी एक से प्रेम कर सकता है, किन्हीं सीमित विद्याओं का अध्ययन कर सकता है, अपने समय को भूत, वर्तमान और भविष्य में बाँट कर काम कर सकता है और भाग्य या कर्म को सर्वोपरि मान कर कहता है कि, यह मैंने अच्छा कर्म किया अतः फल भी अच्छा हुआ यह बुरा काम किया अतः फल भी बुरा ही हुआ। किन्तु यह जीव इस दिशा-काल (Time and Space) के बन्धन से छूट कर साक्षत् शिव ही हो जाता है—"भूत कञ्चुकी तदा विमुक्तो भूयः पतिसमः परः" [शिवसूत्र ३/४२] अर्थात् जब जीव इस केंचली के संकोच से मुक्त होता है तो यह

जीव शिव के समान ही बन जाता है। इसी आशय को भवानी अलक्ष्येश्वरी कहती हैं—"न तं चोंन् म्यौंन अकुय् आसानूय्" (संकोच के मिटने के उपरान्त शिव और जीव वास्तव में एक ही हो जाते हैं)।

न प्रेंथिवी न पेंठी न पातांली
न तली न पांरी न अपांरी चोंपांरी
अन्तर शोंदं अकोय्[1] सु शान्तम्
नेंरमल् सर्व तथ् दीवा दीव ॥८८॥

व्याख्या

वह अपने से अभिन्न परंब्रह्म न तो केवल पृथ्वी स्वरूप ही है और न वह केवल अन्तरिक्ष (आकाश और पृथ्वी के बीच का स्थान) ही है और न वह केवल पाताल के स्वरूप में ही अवस्थित है। उस परंब्रह्म का अस्तित्व न केवल नीचे है और उसका अस्तित्व न केवल इस पार और न केवल उस पार ही है। किन्तु आश्चर्य यह है कि उसका स्वरूप सब में ओतप्रोत है। कोई भी अणु और परमाणु उसके अस्तित्व से रहित नहीं है। वह सर्वव्यापक और निर्मल देवाधिदेव है। स्वयं अपने ब्रह्म-स्वभाव से सबमें व्याप्त है और जो साधक उसे अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में खोजता है वह निस्संदेह उसके विश्वात्मा-स्वरूप की विराटता का साक्षात्कार करता है ॥८८॥

टिप्पणी

इस पद्य में भवानी अलक्ष्येश्वरी ने कुछ-एक भौतिक दर्शनों पर प्रहार किया है। यद्यपि खण्डन करना भवानी का उद्देश्य नहीं है किन्तु ब्रह्म की व्यापकता के परिप्रेक्ष्य में स्वाभाविक प्रवाह से ये बातें कहीं हैं—

(१) "नं प्रेंथिवी" चार्वाक—मत है "भोगास्वादनयुक्तापृथिवी हि आत्मा" (अर्थात् भोगों के आस्वादन पूर्ण होने के कारण पृथिवी ही ईश्वर है) किन्तु भवानी का मत है कि पृथिवी ईश्वर नहीं है।

---

१. केवल मार्तण्ड और पिंगलेन् की पाण्डु-प्रति में प्राप्त।

(२) "नं पैंठी" शून्यवादियों का मत है—"अन्तरिक्षशून्यता हि आत्मा" (अर्थात् आकाश या अन्तरिक्ष की शून्यता ही ईश्वर है) किन्तु भवानी का मत है कि आकाश या अन्तरिक्ष ईश्वर नहीं है।

(३) "नं पाताली" अगोचर-वादी सिद्धान्तियों का तर्क है—"अदृष्ठ-पातालवदेव अगोचरता हि आत्मा" (पाताल को हम देख नहीं सकते हैं, उसी के समान होने के कारण पाताल ही ईश्वर का स्वरूप है) किन्तु भवानी उत्तर देती हुई कहती हैं कि पाताल ईश्वर नहीं हैं।

(४) "नं पारी" कुल मत वालों का तर्क है—"विश्वमयम् आत्मा" (अर्थात् जगत-स्वरूप ही ईश्वर है, किन्तु भवानी अस्वीकारती हुई कहती हैं कि इस ओर दृश्यमान जगत ईश्वर नहीं है।

(५) "ना अपारी" तान्त्रिकों एवं सैद्धान्तिकों का तर्क है—"विश्वो-त्तीर्णमात्मतत्त्वम्" (अर्थात् इस जगत से उल्लंघित स्वरूप ही ईश्वर है) किन्तु भवानी कहती है इस विश्व से उल्लंघित ईश्वर नहीं है।

अन्त में भवानी अलक्ष्येश्वरी शैव-दर्शन के ही अनुकूल परंब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन करती हुई कहती हैं "चौं पारी" अर्थात् उस परंब्रह्म का अस्तित्व विश्व से उल्लंघित भी है और विश्व से संयुक्त भी है (शैवदर्शन "विश्वोत्तीर्ण-विश्वमयं च"); परमशिव का स्वरूप जगत से इतर भी है और जगतमय भी है।

कुस्[1] मारे तैंय कुस्[2] पैंतरावे
सद्रस्[3] सारे तं तारे थाह् ?
मोदंरि[4] रसं गोडं दी शशि औतारे
पानैय पानस् प्रसंरे[5] गाह् ॥८६॥

व्याख्या

इस अनन्त ब्रह्माण्ड का विधि-विधान मनुष्य-मस्तिष्क के लिए दुर्बोध है। इसीको समझाती हुई भवानी कहती हैं—कौन किस

---

१. कौन क, ख पाठ।
२. कौन् क ख, ग पाठ।
३. समुद्रस ख, ग, घ पाठ।
४. मद क, ख पाठ।
५. पुशारे ख, घ, च पाठ।

को मार सकता है और कौन किसका पालन-पोषण कर सकता है। यह वास्तव में केवल मिथ्या का आभास है जिसके फलस्वरूप कोई इस बात का दम्भ करता है कि वह उसका मारने वाला और इसका पोषण करने वाला है। क्या किसी में इतनी शक्ति है कि वह समुद्र के पानी को सोख कर उसके तल की थाह प्राप्त कर सके ? अतः जितना असम्भव कार्य सागर को सुखाकर उसके तल तक पहुँचना है उतना ही कठिन कार्य इस ब्रह्माण्ड की लीला को समझना है। किन्तु जो साधक अपने मीठे भावमय-रस से, अमृत से पूर्ण और चन्द्रमा के समान अपने प्रकाशित आत्मस्वरूप को सींचता है, वह अवश्य ही इस ब्रह्माण्ड की अनन्त लीला को अपने आत्मस्वरूप में देखकर, और इसके अस्तित्व को समझकर, ज्ञान-प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है ॥८९॥

टिप्पणी

भगवान कृष्ण, गीता में, अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं—"य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्" (२/१९)

(जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है और जो इसको मरा हुआ मानता है, वास्तव में ये दोनों ही कुछ नहीं जानते।) अलक्ष्येश्वरी ने सागर की उपमा देते हुए ऐसे इस तथ्य को स्पष्ट किया है जिससे एक बिम्ब (Image) सामने आता है। अन्तिम दो पंक्तियों में वही जिज्ञासा और भावमयता है जो उपनिषदकालीन ऋषियों में थी—

"कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन् ॥"

अर्थात्—कोई विरला ही वीर प्रत्यक्ष रूप से अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करके चर्मचक्षुओं को मूँदकर अमृत (आत्म-तत्त्व रूपी) का आस्वादन करता है।

हीमालय अंशा[1] यवैय् ल्युखं प्रोवुम्
तवैय् पान[2] सुमंरुम् एका अन्त

---

१. शूज् क, ख, ग पाठ।
२. पाँछ क, ख, ग पाठ।

ग्ज्ञान् गर्ज़नाइ्सूत्य प्रेकुरथ् सांदूम
चीतन् प्रोवुम् पानपानय् मंज़[1] ॥९०॥

व्याख्या

हिमालय की पुत्री पार्वती के अंशभूत रूप में जब से मेरा जन्म इस पृथ्वी पर हुआ, उसी क्षण से मैंने एकान्त (अकेले) में रहकर अपने वास्तविक शारिका-स्वरूप का स्मरण करना आरम्भ कर दिया। ज्ञान की अखण्ड गर्जना से मैंने अपनी शक्ति स्वरूप प्रकृति को (जो जगत के माया मल के कारण छिप गई थी) पुनः साधना के बल से प्रकट किया और अन्त में मैंने अपने शरिका के चैतन्य रूप को अपने आत्मस्वरूप में स्वयं ही खोज निकला ॥९०॥

टिप्पणी

लोक-परम्परा के अनुसार सन्त माधवजू दर ने जब भगवती शारिका का साक्षात्कार हारी पर्वत के चक्रेश्वर शक्ति-पीठ में किया तो भगवती शारिका ने सन्त माधवजू से वर माँगने के लिए कहा। किन्तु सन्त माधव जू ने भगवती के अद्‌भुत दिव्य सौंदर्य से अभिभूत होकर यह वर माँगा—"तुम मेरे यहाँ कन्या के रूप में जन्म धारण करो"। भक्त की माँग अद्‌भुत थी किन्तु भगवती शारिका ने इस माँग को ठुकराया नहीं अपितु "तथास्तु" कह कर वे अन्तर्ध्यान हो गईं। यह अश्विन शुक्लपक्ष प्रतिपद्य, सप्तर्षि शुभ संवत् ४६९५ का दिन था। इस वर्ष मलमास और भानुमास के कारण दो कार्तिक थे अतः ज्येष्ठ शुद्धि प्रतिपद्य (ओकदोह) सप्तर्षि शुभ संवत् ४६९६ को माता अलक्ष्येश्वरी को गर्भ में पूरे नव महीने हुए और ज्येष्ठ पूर्णिमा को दसवाँ महीना चल रहा था। इसी दिन भगवती अलक्ष्येश्वरी का जन्म वृश्चिक राशि में हुआ। चन्द्रमा नीच गत होकर सातवें घर में बैठा था अतः विवाह होने के उपरान्त भी विवाह का सुख प्राप्त नहीं हो सका जो वास्तव में उन्हीं का ही विधि-विधान था।

---

१. नोट यह दो पंक्तियाँ मार्तण्ड और पिंगलेन् की पाण्डुलिपियों में सुरक्षित है किन्तु श्रीनगर की पाण्डुलिपियों में अप्राप्य हैं। अर्थ की दृष्टि और छन्द का विधान प्रस्तुत पाठ में अधिक शुद्ध है। —सम्पादक

न दाह् करे[1] न केंछ़ा प्रावे
ठह्रावे पानं[2] तं स्नेहनावे
कांक्षि पूरे अकांक्षित् वांणी
पानेंय् दाता बुख्ता आसे
वासनाइ् गाले ब्रांथा त्रावे
नानारंग सीर पानेंय्[3] द्यावे[4] ॥६१॥

व्याख्या

जो साधक ईर्ष्या और द्वेष के वश में नहीं होता है और न कुछ पाने की ही इच्छा करता है, और जो केवल अपने आत्म-स्वरूप में अपने आपको ठहराकर उसी के स्नेह में मग्न रहता है, जो अनिच्छा से (अर्थात् किसी इच्छा के बिना ही अथवा उदासीन होकर) तटस्थ होकर, अपनी इच्छा को पूर्ण करता है, जो स्वयं ही दाता बनकर भोगों का आहार करता है (अर्थात् स्वयं ही देने वाला और स्वयं ही खाने वाला बनकर) और जो अपनी वासनाओं को शुद्ध करके जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के बन्धनों से मुक्त हुआ होता है (उसे किसी भी प्रकार तथा किसी भी हालत में अपने आत्मस्वरूप के ज्ञान में भ्रान्ति नहीं होती है अर्थात जिस किसी भाव और अवस्था में वह हो वह केवल अपने आत्मस्वरूप का ही साक्षात्कार करता है ।) ; वही साधक परंब्रह्म के नाना प्रकार के रहस्यों को स्वयं अपने ही आत्म-स्वरूप (Self-realisation) के ध्यान में देख सकता है । अर्थात् इस कोटि का साधक अपने आत्म-स्वरूप में समस्त ब्रह्माण्ड की पहेलियों को (अपने ध्यान में) सुलझा सकता है ॥६१॥

---

१. दिये क, ख, ग पाठ ।
२. नत क, ख, ग पाठ ।
३. पानेंय मा० और पिं० पाण्डुलिपि में ।
४. बावे क, ख, ग पाठ ।

टिप्पणी

इस प्रकार के साधक को नाम और स्वरूप की चिन्ता में कहीं भी भ्रान्ति नहीं होती है सर्वदा उसे शिव से अभिन्नता का साक्षात्कार होता रहता है। भवानी अलक्ष्येश्वरी के अनुरूप ही "श्रीतत्त्वगर्भ के स्तोत्र" में यही साक्ष्य प्राप्त होता है—

अत एव तु ये केचित्परमार्थानुसारिणः
तेषां तत्र स्वरूपस्य स्वज्योतिष्ट्वं न लुप्यते ॥

अर्थात्, "यही कारण है जो वास्तविक परमार्थ की खोज में लगे हुए हों उनसे प्रमेयावस्था (State of objective form) में भी अपने आत्म-स्वरूप का ज्ञान छिपा नहीं रहता है।" श्री भवानी भी इसीलिए यही गुन-गुनाती हैं—"नाना रंग सीर पानॅय् द्यावे"।

माता पिता सु ब्राता पानॅय्
प्रथ् थानैय् कथ् नं नये
नॅराकार रूप लागिथ पानैय्
सथ् पानैय तं[1] कथ् सनं नये ॥६२॥

व्याख्या

यही, अपने से अभिन्न (Integral) परंब्रह्म का स्वरूप ही, माता, पिता और भाई के रूप में जन्म लेता है। वह कौन सा स्थान है, जहाँ उसका अस्तित्व नहीं है। यही परंब्रह्म निराकार स्वरूप धारण करके इस समस्त को अपने में विलीन करता है। उसका ही अस्तित्व (Existence) सब में व्याप्त है। वह कौन सा अणु एवं परमाणु (Atom) है जिसमें उसका अस्तित्व नहीं है ? ॥६२॥

टिप्पणी

भवानी अलक्ष्येश्वरी भी शिवसूत्र के समान ही ("चैतन्यमात्मा") परंब्रह्म के चैतन्य-अस्तित्व (Conscious existence) को स्वीकारती हैं,

१. तं—क, ख, ग पाठ।

क्योंकि इस ब्रह्माण्ड में चेतना के रहित किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। अतः यह सब ही (अर्थात् जिस किसी का भी अस्तित्व है) वास्तव में उस चेतना के अस्तित्व से ही अनुप्राणित है।

कौन जाने तेरा स्वभाव
प्रभाव परमानन्दा जी
जो स्मरे हृदय में पावे
जैसी प्रभा भास्करा जी ॥९३॥

व्याख्या

हे उत्कृष्ट आनन्ददाता! कौन तुम्हारे स्वभाव को जान सकता है। जो भक्त अथवा साधक तुम्हारे अलौकिक दिव्य स्वरूप का ध्यान-मनन करता है उसके हृदय में अवश्य ही तेजस्वी सूर्य के समान तुम्हारी ज्ञान-ज्योति प्रकाशित हो उठती है ॥९३॥

सा॑री तत्व् आ॑हा॑रिम् गार च़ोपुम्
ब्रमं॑वोवुम् अखण्ड मण्डल तं॑ पाताल्
हा-हू सूत्यें॑न गें॑व वें॑गं॑लोवुम्
अङ्ग॑ वोपं॑ज़ा॑वुम्[1] पानैं॑य गं॑गं॑ ॥९४॥

व्याख्या

मैंने पृथ्वी तत्त्व से लेकर माया तत्त्व तक के सारे तत्त्वों (Main elements of the material world) को अपनी गहन तपस्या से अपने स्वरूप में विलय किया और इस गह्वर (गुफा) रूपी शरीर को अपने मनन एवं चिन्तन से भक्षण किया (खाया)। मैंने अपनी उग्र तपस्या से इस खण्डहीन अखिल ब्रह्माण्ड और अदृश्य पाताल को (जो विभिन्न तत्त्वों में बिखरे हुए थे) अपने आत्म-स्वरूप में

---

१. नां॑वुम् विशेषा गंग—क, ख, ग पाठ।

विलीन किया और प्राण-अपान के प्राणायाम के द्वारा जमे हुए घी के समान ठोस अपने शरीर को पिघलाया और शंकर के समान स्वयं अपने आत्मस्वरूप में ज्ञान-गंगा को उत्पन्न किया ।।९४।।

टिप्पणी

भवानी अलक्ष्येश्वरी अपनी उग्र तपस्या का विवरण देती हुई कहती हैं—

(अ) पृथ्वी-तत्त्व से लेकर माया-तत्त्व तक के ३१ तत्त्वों का अपने ज्ञान-बल से आहार किया, अर्थात् अपने में उन्हें विलीन किया और ब्रह्माण्ड और पाताल को भी अपनी ज्ञान-कला से अपने स्वरूप में लीन किया ।

(ब) घी के समान ठोस बने हुए तीन मलों (१) **आणवमल,** (अणु के समान अपने शरीर के मल को); (२) **मायामल** (अपने से जगत को अलग और जगत से अपने को अलग, इस प्रकार के भेद [Duality] का मल) ; (३) **कार्ममल,** (यह अच्छा कर्म किया था इसी कारण अच्छा फल मिला, वह बुरा कर्म किया था, इस कारण बुरा फल मिला इस प्रकार की भ्रान्ति में डालने वाला कार्ममल) को प्राणायास के "हा—हू" से पिघला दिया ।

(स) भगवान शंकर के समान स्वयं समाधि के मनन और चिन्तन से अपने आत्मस्वरूप में ज्ञान-गंगा को उत्पन्न किया जिसका अभिषेक पाकर आत्मस्वरूप ब्रह्मानन्द के सहज स्वरूप में मग्न हो गया ।

ज़ैथूय्‌ लागिथ्‌[1] परदूय पान ज़ान
ज़ैथूय्‌ लागिथ्‌ पर्ज़ॅनाव्‌[2] पाम
ज़ैथूय्‌ लागिथ्‌ कायं[3] छ्यय्‌ पर्ज़ान
काय[4] ज़ान मीठं तं शोंदं ज़ान पान्‌ ।।९५।।

---

१. लगिय तं क, ख पाठ ।
२. पर्ज़ानि ख, ग, घ पाठ ।
३. ल्यठु क, ख, यष्टि ङ, च पाठ ।
४. मार्तण्ड पिंगलेन पाठ में 'काययष्टि' ।

व्याख्या

आत्मस्वरूप के चिन्तन और मनन के फलस्वरूप ही अपने से अलग जगत, शरीर और प्रमेय वर्ग (Objective world) बाहिरी संसार की विविधता), जो अपने से अलग दिखाई देते हैं, अपने से अभिन्न (Integral) दिखाई देने लगते हैं। अर्थात् सबमें शिव ही शिव, ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई देता है। आत्मस्वरूप के 'परामर्श' के कारण ही अपने वास्तविक स्वरूप के रहस्य का पता लगता है। अर्थात् "मैं क्या हूँ और क्यों हूँ" इसका रहस्य खुल जाता है। आत्मचिन्तन और मनन के उपरान्त यह दुःखमय शरीर सुखमय बनकर सामने आता है। अर्थात् यह शरीर जो रोगों, बुढ़ापे, मृत्यु और भय का घर है, मनन-चिन्तन और आत्मस्वरूप की उपलब्धि के बाद 'विश्वमय-स्वभाव' से सामने आता है। इस आत्मस्वरूप के ज्ञान के उपरान्त यह शरीर साधक को अखरता नहीं है क्योंकि साधना का वाहक यह शरीर फिर बहुत ही मीठा लगने लगता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब आत्मा शुद्धाभास (वास्तविक स्वरूप के ज्ञान) के लोक में पहुँच चुकी हो ।।६५।।

टिप्पणी

भवानी अलक्ष्येश्वरी के समान ही "श्रीमद्वीरावली" का ग्रन्थकार भी इसी तथ्य को कहता है—

यत्र सर्वे लयं यान्ति दह्यन्ते तत्त्व संचयाः
तं चितिं पश्य कायस्थां कालानलसमत्विषम् ।।

[उस चिति (Universal consciousness) का चिन्तन करो जिसमें सब लय हो जाते हैं, जिस चिति में सारे तत्त्व जल जाते हैं। वही चिति (हे साधक) तुम्हारे इस शरीर में व्याप्त है और उस चिति का तेज कालाग्नि सा प्रदीप्त या चमकीला है।] सभ्या-भवानी भी इसी "चिति" को अपने प्रवचन में तीन बार (चेंथूय् लांगिथ) प्रयुक्त करके इसकी अपार सत्ता का साक्षात्कार करा देती है।

वाव् रठं दादशान्त[1] रव संगटे
मायायि त्रेष्णायि मारे मन्
ब्रांथ् त्राव नाथ छुअं पमने गरे
साथ रठं इहोंय्[2] छुय् ग्ञानै दीह ।।८६।।

व्याख्या

जब साधक प्राणायाम के द्वारा हृदय से प्राणशक्ति को उठाकर द्वादशान्त (अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र) में पहुँचाएगा, तब अनाहत ध्वनि का स्वर फूट पड़ेगा और मन तब ही माया और तृष्णा को मार सकेगा। अर्थात् जब साधक समाधि की अवस्था में पहुँचेगा तब ही मन माया और तृष्णा से छूटेगा। ऐसी अवस्था की प्राप्ति होने के उपरान्त साधक बहिः पूजा (साकार पूजा) आदि की भ्रान्ति या भटकन से छूट जाता है। क्योंकि समाधि में साधक को अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है उसके उपरान्त इस साधक को किसी भी प्रकार का भ्रम नहीं रहता है। यहाँ साधक को बड़ी चौकसी बरतनी पड़ती है क्योंकि समाधि में आत्मसाक्षात्कार होने के उपरान्त इस साधक को बड़े यत्न से इस अपार तेजस्वी (तथा अपने से अभिन्न) आत्मस्वरूप को ग्रहण करना पड़ता है। यही ज्ञान-रूप परंब्रह्म का स्वरूप है ।।८६।।

टिप्पणी

साधक को समाधि की अवस्था तक पहुँचने के लिए बारह चक्रों से होते हुए अपनी प्राण-शक्ति को यत्नपूर्वक और सावधानी से वहाँ तक ले जाना पड़ता है। ये चक्र इस प्रकार से है—जन्माग्र, मूल, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति और व्यापिनि।

---

१. द्वादश रव् क, ख, ग पाठ।
२. सुय तं क, ग, घ पाठ।

जहाँ इन बारह चक्रों तथा बारह स्वरों का ["अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ"] अन्त होता है उसी को द्वादशान्त कहते हैं। "विज्ञान भैरव" ग्रन्थ में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से किया है—"कन्द-चक्र से ब्रह्मरन्ध्र-चक्र तक प्राण शक्ति कड़कड़ाती विजली सा तेज लेकर बढ़ती है। ब्रह्मरन्ध्र-चक्र के ऊपर चार अंगुल मुट्ठी के माप के उपरान्त द्वादशान्त का स्थान आता है। इसके उपरान्त "अहं विमर्श" का स्थान है।"

वाव् ब्योनं-ब्योनं तं नाव छुस् कुनुय[1]
आंठन् अंगम छुस् अकुय पैय्
लय् पवन अहं[2] छुय् पानस्
मानुन् तं पानस निश छुय् दैय् ॥९७॥

व्याख्या

प्राणशक्ति के नाम भिन्न-भिन्न हैं जैसे—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान। किन्तु पाँचों प्राणों में शक्तिस्वरूप प्राण एक ही है। अष्टांग-योग साधना में एक ही प्राणशक्ति—"यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि में ओतप्रोत है।" जब साधक इस प्राणशक्ति को अपने आत्मस्वरूप में लय करता है तब उसे "अहं" स्वरूप परंब्रह्म का साक्षात्कार होता है। सभ्या-भवानी आतमा के अहं-स्वरूप का संकेत देती हुई कहती हैं—"तुम यह स्वीकार करो कि परंब्रह्म का अस्तितव केवल आतमस्वरूप में ही सन्निहित है ॥९७॥

टिप्पणी

मनुष्य शरीर में प्राणशक्ति का बहुत ही महत्व है। शैव-दर्शन में "प्राक् संवित्प्राणे परिणता (संवित्-शक्ति प्रथमतः प्राण-अपान के रूप में बदलती है, प्रकट होती है)" सिद्धान्त बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार

---

१. क्रेठान् क, ख, घ पाठ।
२. म्वय क, ख, ग पाठ।

माना जाता है कि आत्मा का शरीर में आविर्भाव होते ही आत्मशक्ति प्राण-अपान का स्वरूप धारण करती है, अतः प्राणशक्ति ही आत्मा है। मनुष्य शरीर में प्राणशक्ति का बँटवारा इस प्रकार से है—हृदय में **प्राण,** गुदा में **अपान,** नाभि में **समान,** कण्ठ **उदान** और सारे शरीर में व्याप्त **व्यान**। भवानी अलक्ष्येश्वरी के कथन का अभिप्राय यह है कि नाम-वैभिन्य (अलग-अलग नाम) होने पर भी मूल में प्राणशक्ति एक ही है। यही प्राण-शक्ति अष्टांग-योग (Eight-fold yoga) में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि तक ले जाने वाली प्रमुख शक्ति है। इसी शक्ति के जागरण से (आत्मस्वरूप और परंब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार होकर) योगी को निर्वाण प्राप्त होता है।

मूर्थाह् करिथ् तं अमूरथ् पच़ीह्
खाखं गच्छ़ीह्[1] क्या पच़ीह
पांछ़[1] महाबूत् करिम[2] फच़ीह्
हीनच़्[3] माया तं कौरुन[4] स्वरूप[5] ॥९८॥

व्याख्या

मूर्त्त-आकार (साकार) शरीर से उस परंब्रह्म का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता है क्योंकि शरीर तो पाँच महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) का संयुक्त पिण्ड है जो फिर उन्हीं पाँच तत्त्वों में (मृत्यु के उपरान्त) मिल जाता है। अतः इस ऐहिक (सांसारिक) शरीर से परंब्रह्म का रिश्ता सम्भव नहीं है। हाँ, यदि साधक मूर्त्त से अमूर्त्त की ओर अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म की ओर, शरीर से आत्मा की ओर जाएगा तो अवश्य ही परंब्रह्म उसकी सूक्ष्म-आत्मा पर विश्वास कर लेगा। अगर साधक अपने आत्म-

---

१. छ्य-ताय क, ख, ग पाठ।
२. करिन् क, ग पाठ।
३. ह्यच क, ख, च पाठ।
४. करि-ना ग, घ पाठ।
५. बुत क, ख, सबूत घ, च पाठ।

स्वरूप का मनन-चिन्तन नहीं करेगा और यों ही व्यर्थ में अपने अस्तित्व को नष्ट करेगा तो वह परंब्रह्म कभी भी उस पर विश्वास नहीं करेगा, या यों कहिए कि शरीर के मरने के बाद क्या विश्वास कर पाएगा ? वे कहती हैं, "यही कारण है मैंने प्रथमतः शरीर के साधनभूत (या आधार) इन पाँच तत्त्वों, अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश को अपने से विलग किया है। अर्थात् इन पाँचों तत्त्वों को जो माया से पोषित है अपने आत्म-स्वरूप में गर्भित किया। यही कारण है कि माया अब फीकी पड़ गई है क्योंकि माया को उभारने वाले इन पाँच तत्त्वों के विच्छिन्न होने पर माया पंगु हो गई है। माया के विनाश के उपरान्त मेरे अपने ही आत्म-स्वरूप में परंब्रह्म का स्वरूप विकसित हो उठा" ।।६८।।

टिप्पणी

सभ्या-भवानी के इस पद्य की चौथी पंक्ति में "हीनच़ माया" कितना सशक्त बिम्ब (Image) है। "माया हीनचर्या" अर्थात् माया रानी से नौकरानी बनी।

मन् गालि तं पानैय् मोंच़े[1]
अहं ग्वारि तं क्या सन् यच्छे ?
वेस्मैय्[2] थदि[3] दारि पानैय् नच़े
क्या[4] गुॖलि फुलंनस् तुल् ना मूल् ।।६६।।

व्याख्या

जब साधक का मन अपने अधिकार में आता है, अर्थात् जब साधक साधना के बल से मन की भूमि या सीमा (सरहद) से पार हो जाता है तब मन के न रहने से वहाँ केवल आत्मा का स्वरूप

---

१. व्यचे क, ख पाठ।
२. ब्यहन क, ख, ग पाठ।
३. ठडि डालि क, घ, च पाठ।
४. वाह वाह गुॖलि फ्वलिना क, ख, ग पाठ।

ही बाकी रह जाता है। उस आत्म-स्वरूप की गवेषणा (खोज) कर लेने के उपरान्त यह साधक किस वस्तु की इच्छा कर सकता है ? अर्थात् किसी की भी नहीं। क्योंकि चाही हुई वस्तु तो आत्म स्वरूप ही है। जब वही मिल गयी फिर किसकी इच्छा हो सकती है ? इस अवस्था की उपलब्धि होने के उपरान्त साधक ऊँची अटरिया पर स्वयं ही विस्मय से अथवा उन्माद (नशा) से नाचने लगता है। [जिस प्रकार किसी विचित्र वस्तु को देखकर आश्चर्य होता है उसी प्रकार महायोगी को ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति की दशा में अपार रहस्य की कुंजी मिल जाती है और प्रत्येक क्षण नई-नई अवस्थाएँ होने के कारण उसे अपार आनन्द की अनुभूति हो जाती है और वह हर्ष में बेतहाशा नाचने लगता है] उस विस्मय (हैरानी) की अवस्था में भाँति-भाँति के फूल साधना रूपी क्यारी में चटख-चटख कर खिल उठते हैं। किन्तु आश्चर्य यह है कि न तो इन चटखती हुई कलियों की पत्तियाँ ही होती हैं और न उनकी जड़ ही कहीं दिखाई देती है ; क्योंकि ये सब अनुभूति में ही इस साधक को प्राप्त होती हैं ।।८८।।

टिप्पणी

सभ्या भवानी ने "कुलयुक्ति"[1] ग्रन्थकार के समान ही इस विस्मय का साक्षात्कार किया है—

आत्मा चैवात्मना ज्ञातो यदा भवति साधकैः ।
तदा विस्मयमात्मा वै आत्मन्येव प्रपश्यति ।।

अर्थात् "जब साधक अपने ज्ञाता भाव (Knower) से अपनी आत्मा का अपने आत्मस्वरूप के द्वारा साक्षात्कार करता है तो साधक आत्मा के इस साक्षात्कार को निश्चय ही विस्मय से देखता है ।।"

गांडिथ् तं ग्वारिनि[2] द्रायेस बु़ तस्
क्या लबांहं कोंसं आंस नं तस् जाय्

---

१. शैव-दर्शन का एक ग्रंथ।
२. डेंटोन्—क, ख, घ पाठ।

न बोवि पाफ तस् न छ्युय् पोण्य तस्
न[1] आंस् बोड् तस् न आंसूस् जाय ॥१००॥

व्याख्या

अपने मन को वश में करने के उपरान्त मैं उस परंब्रह्म की खोज करने के लिए निकल पड़ी। किन्तु मैं उसे कहाँ खोजती ? ऐसा कोई भी स्थान मुझे नहीं मिला जहाँ उसका अस्तित्व नहीं था। साधारण रूप में, खोज उसकी की जाती है जिसका अस्तित्व (अथवा जिसका होना) नहीं हो। किन्तु जो अन्दर-बाहर प्रत्येक स्थान पर हो, उसे खोजने का प्रश्न नहीं उठता है। मुझे तो उसी का स्वरूप अपने में, पदार्थ में और विश्व में दिखाई पड़ा। इस कारण मैं किसे पकड़ती और खोजती, और क्या पाती ? इसके अतिरिक्त एक और अनुभूति मुझे प्राप्त हुई कि वह परंब्रह्म पाप और पुण्य की सीमा (सरहद) से परे है। यहाँ भवानी के कथन का आशय यह है कि वह परंब्रह्म मनुष्य-समाज में निर्धारित पाप-पुण्य की परिभाषा से परे है। वह परंब्रह्म अणु-अणु (ज़र्रे-ज़र्रे) में व्याप्त होने पर भी, न तो उसकी कोई विशेष थाह है और न कोई विशेष, उसका स्थान है ॥१००॥

टिप्पणी

भवानी के कथन का अभिप्राय यह है कि मन को वश में करने के उपरान्त भी यदि साधक बाह्य-जगत में, उस अपने से अभिन्न, परंब्रह्म की खोज करने में लग जाएगा तो यह अवश्य ही व्यर्थ है क्योंकि अपने आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त उसकी खोज, और कहीं भी, नहीं हो सकती है। इसी तथ्य को कश्मीरी शैव-दर्शन भी कहता है—

"विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः स्वयं प्रकाशं शिवमाविशेत्क्षणात्"

---

१. आसान—ख, च पाठ।

"उदार द्रष्टा बनकर, अपने आत्म-स्वरूप में ही उसकी विवेचना करने के उपरान्त, साधक स्वयं-प्रकाश शिव-भाव में तत्क्षण प्रवेश कर पाता है" (विज्ञान-भैरव के उदाहरण से उद्धृत)।

संबल[1] ईरै[2] वा़चुस्[3] बुइ तस्
तंबू़र साज़ैय् युस्‌गोमं वश[4]
शशि दारि लवं दिमं महादीवस्[5]
गंबू़र तोतैय् क्या बो़लिवा़न्य[6] ॥१०१॥

व्याख्या

आत्मस्वरूप की सम्बलता (सहारे) के बहने (प्रवाह, निरन्तर रहना) के कारण ही, अर्थात् आत्मस्वरूप के शक्ति-प्रवाह के कारण ही मैं, उस अपने से अभिन्न परंब्रह्म के पास पहुँच सकी हूँ; क्योंकि सिर और ब्रह्मरन्ध्र के बीच की अवस्था में पहुँचने के उपरान्त (नाद और नादान्त के आपसी मेल के फलस्वरूप) अद्‌भुत संगीत का स्वर ब्रह्माण्ड में गूँज उठा ; जिसकी ताल और लय पर वह आत्मप्रकाश परंब्रह्म मेरे वश में हुआ। अर्थात् इस समाधि के कारण मेरे ब्रह्मरन्ध्र में एक दिव्य संगीत गूँज उठा। उसी नाद (ध्वनि, स्वर) के फलस्वरूप मुझे परंब्रह्म के स्वयं-प्रकाश का बोध हुआ। अब मैं पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान अपने चित्-रस रूपी अमृत से उस महादेव का अभिषेक करना चाहती हूँ क्योंकि साक्षात्कार के लाभ के उपरान्त अब मुखर (बात करने वाला)

---

१. संबूर क, ख, ग किन्तु मार्त० एवं पिंग० संवल।
२. एरु—क, ख व्यूर घ, ङ पाठ।
३. वातान क, ख, ग पाठ।
४. ब्याय, ब्वय ख, ग, च पाठ।
५. ब्वहतस् ग, घ महाबूतस् क, ख पाठ।
६. बोल्याह् क, ख, ग पाठ।

तोता (अर्थात् मन) गम्भीर बन उठा है, क्योंकि अब कहने के योग्य कुछ भी नहीं रहा है। उपनिषद् इसी तथ्य को कहते हैं— "न तत्र वाक् प्रवर्तते" अर्थात् उस अनिर्वचनीय के प्रति वाणी कुछ नहीं कह सकती है" ॥१०१॥

टिप्पणी

भवानी अलक्ष्येश्वरी की यह उक्ति ("शशि दारि लर्वदिम महा-दीवस्") अत्यन्त सूक्ष्म और आशयपूर्ण है। चन्द्रमा की सोलह कलाएँ हैं, अमावस्या तक पन्द्रह कलाएँ बनतीं हैं और पूर्णिमा की कला जोड़ने से सोलह कलाएँ बनती हैं। **'रुद्रयामल तंत्र'** में अमावस्या का स्वरूप इस प्रकार से वर्णित है—"अमापूर्णकलशहस्तश्च" अर्थात् अमा अमृत का भरपूर कलश (घड़ा) लिए हुए है; किन्तु पूर्णिमा "रसपानकरी" है अर्थात् अमृत रस का पान करने में समर्थ है। अमावस्या सम्पूर्णत: अपने में गर्भित[1] है अत: शिव का प्रतीक है क्योंकि शिव अपने ही स्वरूप में ध्यानस्थ और मग्न है और शक्ति-स्वरूपा पूर्णिमा इसे (शिव को) विश्व में अभिव्यक्त करती है, इसको शैव दर्शन में 'प्रसर' कहते हैं। अत: यह ज्ञान और क्रिया का स्वरूप है। इसी स्वरूप को तंत्रों में यामल अर्थात् शिव-शक्ति संघट्ट (मेल) कहा है। अमावस्या शाक्तमत में "कालमञ्जरी" है यही श्यामा-स्वरूपा काली है जो सब तत्त्वों (Elements) को अपने में लीन करती है। इसीको 'कौलमत' वाले संहार-काली के स्वरूप से पूजते हैं। पूर्णिमा सोलह भावों को (अर्थात् मन-तत्त्व से लेकर शिव-तत्त्व तक के सोलह तत्त्वों को) लेकर पुन: इस संहार को सृष्ट (उत्पन्न) करती है। इस पूर्णिमा को भद्रकाली भी कहते हैं। बंगाल के तन्त्र-मार्ग में इसी पूर्णिमा को "षोड़शी" कहते हैं।

सभ्या-भवानी अपने अभेद रस के अमृत से अर्थात् अमा-कला के निमेष (संहार) और पूर्णिमा-कला के उन्मेष (सृष्टि) से परे होकर अर्थात् अपने ही स्वयं प्रकाश के शक्तिपात (अनुग्रह) से अपने ही आत्मस्वरूप रूपी महादेव का अभिषेक करना चाहतीं हैं।

---

१. पूर्णिमा का व्यक्त स्वरूप है पूर्णचन्द्र की चाँदनी (प्रकाश) परन्तु अमावस्या का स्वरूप अव्यक्त है और अपने में ही लीन है।

अनीक् नद्[1] मेलान् सद्रस्[2]
अवैय् सौंबाव् ड़्वोन्[3] स्वरूफ
नं कैंह थव् तं नं कैंह त्राव्
बहू दीप्तिया[4] तं प्रखटेव रूफ् ॥१०२॥

व्याख्या

जिस प्रकार जगत की अनन्त नदियाँ दौड़कर, भागकर, उछलकर अपने वास्तविक स्रोत (Source) समुद्र में गिर कर लीन होतीं हैं, उसी प्रकार अन्तहीन जीव विविध उपायों, मार्गों, धार्मिक सिद्धान्तों आदि के द्वारा (दौड़कर) अपने वास्तविक स्रोत (Source) परंब्रह्म के ध्यान में डूबकर लीन होते हैं। [भवानी स्वयं ही प्रश्न को उभारकर इसका समाधान भी करती हैं। ये नदियाँ और ये जीव इतनी उछलकूद क्यों करते हैं ? क्योंकि नदी का स्वभाव प्रवाहशील है, जीव का स्वभाव भी गतिशील है अतएव दोनों (नदी और जीव) तब तक गति में रहा करते हैं जब तक इन्हें इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं हो जाती है। नदी तब तक ही गतिशील है जब तक उसे आत्मस्वरूप (सागर) की प्राप्ति नहीं होती है। इसी प्रकार जीव का स्वभाव भी तब तक ही गतिशील है जब तक उसे आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है। जब नदी सागर के स्वरूप में और जीव ब्रह्म के स्वरूप में लीन हो जाते हैं तो गति रूपी (Movement and vibration) स्वभाव समाप्त हो हो जाता है और आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।] साधक

---

१. नजू क, ख, घ पाठ।
२. दर्याव ख, ग, घ पाठ।
३. आव क, ख पाठ।
४. दीप ख, ग, घ पाठ।
५. नह छिपा क, ग, ङ पाठ।

को आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए न तो कुछ रखना पड़ता है और न कुछ छोड़ना ही पड़ता है अर्थात् जो रखने के योग्य आत्मा-स्वरूप है वह तो पहिले से ही है और जो छोड़ने के योग्य था (अर्थात् काम, क्रोध आदि) वह सब तो आत्मस्वरूप के प्रकट होते ही स्वयं ही मिट जाता है। अतः साधक को न तो कुछ ग्रहण करना है और न कुछ छोड़ना ही है। इस प्रकार की अवस्था की प्राप्ति होने के बाद अपार तेज की प्रभा (रोशनी) छूटने लगती है और आत्म-ज्ञान में ब्रह्म का स्वरूप प्रकट होता है ।।१०२।।

टिप्पणी

भवानी अलक्ष्येश्वरी के समान ही अर्जुन ने भगवान के इस विश्व-रूप-दर्शन का साक्षात्कार किया था, किन्तु अर्जुन को इसका साक्षात्कार तभी संभव हुआ था जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को "दिव्य चक्षु" (अलौकिक दृष्टि) दी थी किन्तु भवानी ने आत्मबल के सहारे ही इसका दर्शन कर लिया। :—

"यथानदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति"।

(जिस प्रकार जलपूर्ण नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती हैं उसी प्रकार ये कौरवों के महारथी आपके तेजस्वी मुख में प्रवेश कर रहे हैं)।

आकाश सों मोंदुर दार वुछूम्
तवैय् तार रटंमस् मे पव्
दीप्यैव्[1] शशिख् रूप औतारे
बहु आकार नतं निराकार ।।१०३।।

व्याख्या

निरन्तर परमार्थ-चिन्तन के ध्यान में मग्न रहने के कारण

---

१. दीया क, ग, घ पाठ।

अपने ही चित् रूपी आकाश से एक मीठी धारा बहने लगी। मैंने जिज्ञासु की तरह उसको लगातार अपने स्वरूप में गृहण किया। मुझ शरीरधारी रूपभवानी के अवतार के चित्-आकाश में सूर्य और चन्द्रमा एक साथ प्रज्ज्वलित होकर उदित हुए, जिसके फलस्वरूप मेरी नज़र खुल गई और माया के वैविध्य के बीच में रहकर भी केवल अपने निराकार आत्मस्वरूप में दृष्टि स्थिर करके मैं जगत के व्यवहार करती रही; किन्तु अपना स्रूवप विस्मरण कभी भी नहीं हुआ ॥१०३॥

टिप्पणी

जब साधक के संकल्प और विकल्पों का पूर्ण संहार (शंकापूर्ण समाधान) हो गया हो तो आत्म-शक्तियाँ विकसित होकर स्वयं साधक की मार्गदर्शक बनतीं हैं। जैसे—

हृद्याकाशेनिलीनाक्षः पद्मसंपुट मध्यगः।
अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात् ॥

अर्थात् हे ! सुभगे पार्वती ! जो साधक जागरूक चेतना से युक्त अपने हृदय रूपी आकाश के कमल की कर्णिका पर ध्यान लगाकर मग्न होते हैं, निश्चय ही उनकी शेष इन्द्रियाँ अस्त हो जाती हैं और वे साधक अवश्य ही महान सौभाग्य को प्राप्त करते हैं ('विज्ञान भैरव')। भवानी ने भी इसी अवस्था का चित्रण किया है। कबीरदास भी अलक्ष्येश्वरी के समान कहते हैं—"इहि घट चन्दा, इहि घट सूर, इहि घट बाजै अनहद तूर"। भवानी कहतीं हैं, "दीप्यैव् शशिरव् रूप औतारे" (अवतार रूपभवानी के अपने ब्रह्माण्ड में सूर्य और चन्द्रमा का उदय हुआ है।

युस् हा[1] कन्दि बस्मा करे
प्रसन्द[2] तिहून्दुय् शिवमयरुफ[3]

---

१. सा, मा, क, ख, ग पाठ।
२. पसमंद क, घ, ङ पाठ।
३. शून्या, सान्यामय, क, ख, च पाठ।

शास्तूर शस्तूर क्या मुचरे
रल्येंस्[1] अग्नं तं मरेंस् दीह
कैंह् न मंगे कैंह नं स्मरे
ध्यान संदारे[2] तं तारे[3] पान ॥१०४॥

व्याख्या

जो साधक इस शरीर-रूपी कन्दरा (गुफा) को ज्ञान-रूपी अग्नि से भस्म करता है उसका शिवमय स्वरूप प्रसन्नचित्त होकर रहता है। उसे शास्त्र और शस्त्र खोलने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। शास्त्र शंका के मिटाने के लिए हैं किन्तु उसकी (शिवमय हुए साधक की, अथवा कल्याण पद को प्राप्त किए हुए साधक की) कोई शंका ही नहीं रहती है। शस्त्र (हथियार) शत्रु के मारने के लिए निकाला जाता है किन्तु उस कल्याणमय साधक का कोई भी शत्रु नहीं है, इसलिए उसे हथियार का क्या करना है? यह कल्याण-स्वरूप साधक अपनी ज्ञानाग्नि को भड़काकर इस शरीर की दूषित वासनाओं को मार भगाता है जिसके कारण न तो इसे कुछ माँगने की इच्छा रहती है और न अन्य किसी बात को याद रखने की आवश्यकता ही रहती है। यह कल्याण स्वरूप साधक अपनी समाधि के ध्यान में मग्न होकर केवल अपना उद्धार करता है ॥१०४॥

टिप्पणी

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्प वर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमहु पण्डितं बुधाः ॥ ४/१६॥

---

१. लुहार क, ख, ग पाठ ।
२. सुहवरे क, ख, ग पाठ ।
३. बियत क, ख, ग पाठ ।

अर्थात् "ज्ञानीजन उसी को पण्डित कहते हैं जिस साधक के सब ही काम और कामनाएँ संकल्प के रहित हैं ; और जिसने ज्ञानरूपी अग्नि से अपने समस्त कर्मों को भस्म कर दिया हो।" भवानी अलक्ष्येश्वरी ने इसी योग को प्राप्त किया है और वे अपने वचनों में इसी को व्यक्त कर रही है।

अनाहत् शब्द मना गांण्डिथ्
पान मण्डिथ् सोंरुम्[1] सुय्
हकै बानं बरिथ तं पानैय्
साकै वाकै आसि गाटूजं[2] ॥१०५॥

व्याख्या

मैंने ब्रह्मरन्ध्र की मधुर ध्वनि से अपने मन की चंचलता को बाँध लिया अर्थात् मन को चंचलता और वासना की भूमि से ऊपर उठाकर **नाद** और **नादान्त** के बीच में पहुँचाया। अब वह मन नहीं है अपितु आतमस्वरूप का ही अंश है। अपने आतमस्वरूप को उसी परंब्रह्म के स्वरूप में लीन किया। मैंने हकीकत से शरीर-रूपी बर्त्तन को भरपूर भर दिया। मैंने साकी बनकर सत्यता की बुद्धि का परिचय दिया ॥१०५॥

टिप्पणी

अन्तिम पंक्ति कविता की दृष्टि से सुन्दर है, किन्तु परमार्थ की दृष्टि से इसकी ध्वनि और भी सुन्दर है। प्रत्यक्ष रूप में मधुबाला (साकी) का कर्म है, कि मैखाने (या मधुशाला) में आए हुए मेहमानों को शराब पिलाना, किन्तु कोई विरली ही मधुबाला ऐसी होती है जो शराब पीने के लिए आए हुए अतिथियों की उपेक्षा करके (या उनकी देखभाल छोड़कर) स्वयं मदिरा पीने लगती है। भवानी, स्त्री जन्म में अवतीर्ण होने के कारण समाज की दृष्टि में भोग्या थीं किन्तु उन्होंने (भवानी अलक्ष्येश्वरी ने) अपनी

---

१. रिशीयस् क, ख, सरीयस् घ, ङ, सरूम ग, च पाठ।
२. दानिस्त क, ख, ग पाठ।

अखण्ड साधना के कारण "आतमस्वरूप योग्या" (आत्मस्वरूप प्राप्त करने में समर्थ) का स्वरूप धारण किया।

दूर चल् तेल्यं[1] हुर कांछी
पूरैय खसि अहं[2] इयि ह्येथं[3]
चं शन् आदीन्[4] क्ववं[5] छुख् पथ्
मा[6] चं[7] शीतल शीतल बख् ॥१०६॥

व्याख्या

साधक जितना ही जगत के माया जाल से अलग होता जाएगा, परमार्थ उतना ही उसके समीप आता जाएगा। होते-होते जब साधना निखर उठेगी; तो साधक के आतमस्वरूप में अहं परामर्श (Supreme being) का स्वरूप स्वयं ही उदय होगा। इस कारण हे साधक! तुम क्यों इन छः (अर्थात् मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) के अधीन हुए हो? तुम इस प्रकार का व्यर्थ (फुज़ूल) विलाप बन्द करो कि इन इन्द्रियों के सेवन करने से तृप्ति मिलती है। यह जो शीतलता और तृप्ति जो तुम इन इन्द्रियों से (अर्थात् मन की भिन्न-भिन्न प्रकार की वासनाओं से) जोड़ते हो, वह तो ऐसे ही है जैसे किसी कोमल तथा सुन्दर स्त्री की चापलूसी भरी बातों को सुनकर कोई रीझता हो। किसी रूपवती स्त्री के रूप को देखकर मोहित होते हो, संसार के विविध व्यंजनों को देख कर लार टपकाते हो, सुगन्धि (खुशबू) को सूँघ कर मुग्ध

---

१. तह क, ख, ग पाठ।
२. ह्यम् क, ख पाठ।
३. आयित् क, ख, ग पाठ।
४. आयीन ग, घ पाठ।
५. क्वरुनय, क्वव रुनैय, क, ख, ग पाठ।
६. न, च पाठ।
७. अप्राप्य केवल मार्त० पिंगले० पाण्डुलिपि में।

होते हो। ये सब इन्द्रिय-सुख क्षणभंगुर और नश्वर हैं, अतः क्यों इनके पीछे भागते हो ? ये केवल भटकाने वाले ही हैं।।१०६।।

टिप्पणी

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए गीता में कहते हैं—

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत" ।।१४/२।।

अर्थात् "हे कुन्ती पुत्र ! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों का यह संयोग निश्चय ही क्षण भंगुर है (टिकाऊ नहीं है)। इस कारण, हे अर्जुन ! उन इन्द्रियों को तू अपने वश में करके उनके सुख के लोभ से मुक्त रह।"

सद्रस्[1] अन्दर अंशाह् आव
ज़ाव म्यॆंच़ तं जायॆस् म्यॆंचू
म्यॆंच़ूड़् बूग तं म्यॆंच़ूड़्[2] वंज्य[3]
म्यॆंच़ूड़् करूस् पारिजान्
अवैय् म्यॆंचि़ बज्योव् म्यॆं च़ूड़्
पतोह् श्रॆंपिथ् म्यॆंच़ूड़् गड़् ।।१०७।।

व्याख्या

इस चेतना के समुद्र में एक छोटे से अंश का अंकुर पनप उठा। उस चेतना (Consciousness) के अंकुर से तुम्हारा ही अभिन्न (Integral) स्वरूप मुझ में जन्मा, अथवा मेरा आकार तुम्हारे आकार में उत्पन्न हुआ। सृष्टि होने के उपरान्त मैंने तुम्हारे ही

---

१. दर्याव क, ख, ग पाठ।
२. न्यामचू क, ग पाठ।
३. ख्याव ख, ग, घ पाठ।

कर्त्ताभाव से बने हुए पदार्थों का भोग किया और तुम्हारे स्वरूप को अपने स्वरूप में ओढ़ लिया, अथवा तुम्हारे स्मरण, मनन, चिन्तन और परामर्श को ही भोग समझकर उनका आस्वादन करती रही और मैंने तुम्हारे ही स्वरूप को अपना आतमस्वरूप समझकर उसे अपने पर ओढ़ लिया। मैंने इस जगत में आकर केवल तुम से ही जान पहचान की है। यही कारण है कि मेरा स्वरूप तुम्हारे स्वरूप में लीन हो गया और मेरे ममत्त्व की एकाई समाप्त हो गई और अब केवल "अहं" स्वरूप ही शेष रह गया है। अन्त में मेरा और तुम्हारा स्वरूप एक ही बन गया है ॥१०७॥

टिप्पणी

कश्मीरी भाषा में "मृत्तिका" (मिट्टी) को 'म्यॆच़' कहते हैं। इस "म्यॆच़" शब्द के श्लेष[1] के अनुसार दो अर्थ निकलते हैं :—संस्कृत >"मे+त्वं"। कश्मीरी भाषा >म्यॆं+चॗ ड़ॖ अर्थात् मेरे लिए+तुम ही हो। शैव-दर्शन के प्रत्यभिज्ञा के अनुसार जीव और शिव का इस प्रकार से मिलाप होता है—/अहं+इदम्/ उलट कर रखिए तो /इदम्+अहं/ बनता है (I am that ; That I am)। परमसिद्धा लल्लेश्वरी के पद्य के साथ अलक्ष्येश्वरी के उक्त पद्य की तुलना कीजिए--

अन्दरं ॖति म्यॆ.चॗड़ॖ नॆंबरं ॖति म्यॆचॗड़ॖ
म्यॆ.चॗड़ॖ छ़ांडान् लूसुम् दोहं
वुछुम् ग्ज्ञानस् तति ॖति म्यॆ.चॗड़ॖ
म्यॆचि़ ॖति पानस् दितुम् छ़ौह् ॥

(अन्तर में भी तुम ही हो, बाहिर भी तुम ही हो, मैं तुम्हें ही ढूँढ़ती हुई दिन बिता चुकी हूँ। ज्ञान में मैंने ढूँढ़ा, वहाँ भी मुझे तुम ही मिले और अन्त में मैंने तुम्हारे ही स्वरूप में अपने को लीन कर दिया।)

परमसिद्धा लल्लेश्वरी ने केवल पाँच अवस्थाएँ अपने पद्य में दिखाई हैं किन्तु भवानी अलक्ष्येश्वरी ने अष्टांग-योग दर्शन की आठों अवस्थाओं का क्रमिक-विकास (Evolution) दिखाया है।

---

१. एक शब्द के दो अर्थ।

आयोव् वर ह्यथ् रूदुस्[1] नं सोरं
कीवल्[2] सोरुन् म्येच़ पोञ्य तं वाव
अग्नं आव तं वाह वाह रंग पेवं
नच़ान् लेच़ान् तं सपंनुस् नावं
आंग्ञा आयि तं च़ोल हा च़ूर ज़न्
वाव द्रास[3] वोथंद्न्य क्यथं ज़न् पेव ॥१०८॥

व्याख्या

यह जीव बड़े-बड़े वरदानों को लेकर इस जगत में जन्म लेकर आया था। किन्तु माया के भ्रम में भटककर इसे अपने वरदानों का जरा भी ज्ञान नहीं रहा। संसार के चक्कर में पड़कर इस जीव ने केवल अपना शरीर (मिट्टी) अपनी प्रतिष्ठा (पानी) और अपनी बात (वायु) पर अधिक बल दिया अर्थात् इनके ही चक्कर में भटकता रहा। जब अग्नि के समान भड़कीली जवानी उभरी तो और भी कई प्रकार के रंगीले फूल खिले अर्थात् भोग-विलास की अनेक रंगरेलियाँ चहचहा उठीं। इस प्रकार जगत के रंगमंच (Stage) पर नाचते-खेलते, सामाजिक प्रतिष्ठा से सम्पन्न, इसका नाम, इसकी प्रशंसा खिल उठी। समय की अवधि (Span of Time) बीत जाने पर (अथवा आयु के बीत जाने पर) यह जीव चोर के समान इस संसार से कूच कर गया। जिस प्रकार चोर ज़रा आहट पाते ही घबराकर भाग जाता है, उसी प्रकार यह भी इस संसार से कूच कर जाता है, प्राण-वायु के छूटते ही मर जाता है ॥१०८॥

रहे निशाना ईश्वर सुन्दं नावा
कति आव तं कोतं सन गव्

---

१. रहुस क, ग, च पाठ।
२. कीवल मार्त० पिंग० पाण्डु०।
३. ओसु क, ख, ग पाठ।

सुमरिथ् सादिथ् में ठहरावूम्[1]
दीव ह्यथ् सोखी[2] सीव करहास ॥१०६॥

व्याख्या

इस ब्रह्माण्ड में (अथवा इस जगत में) केवल ईश्वर का ही नाम रहने वाला है शेष सब नश्वर है। जीव अव्यक्त से आता है और अव्यक्त (Unknown) को चला जाता है। यही कारण है, मैंने स्मरण-मनन और साधना के बल से उस, अपने से अभिन्न, आतम-स्वरूप को अपने में स्थापित किया (ठहराया)। अब मैं अपने आतम-स्वरूप की प्राप्ति के उपरान्त पूर्ण सुखी हूँ। अब मैं केवल सेवा-अर्चना में लीन होना चाहती हूँ ॥१०६॥

छुनंनस् लूब क्रूद काम अहंकारा
चाव संसारस् अमल् करनेह्
पतं सु आमाल अमल् होरने गव्[3]
पोंछ ओसं[4] आमुत् कोंछ[5] क्या निये ॥११०॥

व्याख्या

इस संसार में जन्म लेने के उपरान्त यह जीव माया के (काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और अहंकार के) चक्र में पड़ कर भटकता रहा अर्थात् संसार में आने के उपरान्त इस जीव ने केवल छः शत्रुओं (काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, अहंकार) के भटकाव में अपना जीवन बिताया। फिर समय के बीतने पर और आयु के समाप्त होने पर यह जीव यहाँ से कूच करके वहीं चला गया जहाँ से आया था। यह मनुष्य इस जगत में अतिथि (मेहमान) बनकर

१. कज़ाव क, ख, ग पाठ।
२. मुखी क, ख, ग पाठ।
३. कर्यस क, ख पाठ।
४. आयाव तं क, ख, ग पाठ।
५. क्वछ ख, ग पाठ।

आया था। अब जब कि यह यहाँ से चल पड़ा है न जाने कौनसा तोहफा (अच्छे कर्मों की पोटली) लेकर वहाँ जाएगा ।।११०।।

ईश्वर् पच्छ़[1] ह्यॆथ यव तं ज़ायोवं[2]
ग्वारयोन[3] पानैय्[4] इह मनोश सौरूप्
सु दीह सौर्योन्[5] बाव प्रथं ज़ुवस्
तिम् ज़ीव सीठ्यं कस् मालि अथि आये ।।१११।।

व्याख्या

यह जीव ईश्वर का विश्वास लेकर इस लोक में (जन्म धारण करके) आया और इस मनुष्य स्वरूप में उसने अपने वास्तविक स्वरूप को खोज निकाला। कथन का अभिप्राय यह है कि कोई निराला ही जीव जन्म लेने से पूर्व ईश्वर का विश्वास लेकर इस पृथ्वी पर जन्म लेकर आता है और आरम्भ से ही केवल अपने स्वरूप (अर्थात् अपने आत्मस्वरूप) की खोज में लग जाता है। मनुष्य शरीर ही ऐसा है जिसमें अपने आत्मस्वरूप की खोज सम्भव हो सकती है। ऐसा विरक्त जीव साधना के सहारे अपने आत्मस्वरूप को उभार कर, हर एक जीव को उसी परंब्रह्म के स्वरूप में जानकर, विश्वात्मा (Universal Soul) का स्वरूप बनता है। अर्थात् भेद-सृष्टि को समाप्त करके अभेद-सृष्टि की प्राप्ति करता है। हे मेरे बन्धु ! इस अवस्था की दशा अर्थात् इस प्रकार का "आत्म-चैतन्य" (Universal Consciousness) किसी विरले और निराले सन्त को ही उपलब्ध होती है ; अर्थात् सब को ऐसा ज्ञान प्राप्त नहीं होता है ।।१११।।

---

१. वाद् क, ख, मार्त० पिंगले० पच्छ़'।
२. कजाव क, ग, घ पाठ।
३. यति, यत्न, यतेन क, ख, ग पाठ।
४. आव तं क, घ पाठ।
५. स्वरि ख, ग, घ पाठ।

तिमैय् छि मनोश नं तं द्रायि बेंयि[1] गुपन्
यिमन् नं अन्दरं सु पानं मशिथ् गव्
पैंयरव् बांज़ेरं[2] च़ीतन् सु दनं सोर्यख्
छ्योनं बानं कति मालि द्रकार इवान्[3] ॥११२॥

व्याख्या

जो साधक आत्मस्वरूप का ज्ञान कभी विस्मृत (भूल जाना) नहीं करता है अर्थात् जो इस जगत में खा-पीकर (और सब प्रकार के व्यवहार करने के उपरान्त भी) अपने आत्मस्वरूप से भटकता नहीं है वही वास्तव में सही मनुष्य है। बाकी सब पशु हैं। जो मनुष्य भौतिकता (Material Prosperity) को ही सब कुछ मानकर उसी में रम जाते हैं, वे इस ज्ञान को तब समझ पाएँगे जब जर्जरित बुढ़ापा उनके सामने आएगा, और तभी वे जवानी तथा ऐश्वर्य, कामिनी और कंचन (Lust and Gold) की सही परख कर पाएँगे; किन्तु तब उनका शरीर रूपी पात्र टूटा-फूटा होगा और उसमें कुछ भी नहीं होगा। अर्थात् उनके पुण्य-हीन शरीर की अवस्था वैसी ही होगी जिस प्रकार भूखे के लिए अन्नहीन पात्र की अवस्था होती है। जिस प्रकार भूखे के लिए अन्न-रहित पात्र का कुछ भी मूल्य नहीं होता है उसी प्रकार उस पुण्य-हीन शरीर का उस व्यक्ति के लिए कुछ भी मूल्य नहीं रहेगा ॥११२॥

टिप्पणी

"आहारनिन्द्राभयमैथुनं च सामान्यं······ धर्मो हि तेषामधिकोविशेषः।"
—पंचतंत्र

अलक्ष्येश्वरी के कथन का अभिप्राय ऊपर वाले श्लोक का ही है, कि "पशु और मनुष्य में खाना, नींद, भय और वासना समान ही होती हैं,

---

१. किह क, ख, ङ पाठ।
२. बुडिथ् ग, क पाठ।
३. यिये, यिय क, ख, च पाठ।

किन्तु पशुओं में धर्म नहीं है अर्थात् ऐहिक शरीर से अपना उद्धार करने की चेतनता (Consciousness) पशुओं में नहीं है, जबकि मनुष्य में यह चेतनता रहती है। जो मनुष्य इस चेतनता का उपयोग नहीं कर पाता है वह भी पशु के समान ही है।

सहज़ तं आनन्द् रौंज़ं[1] हां पानं[2] दांरिथ्
पानैय् पान तस्[3] मंज संदांरिथ् क्यथ्
कौंपायि च़्याने गच्छ़ हां बु तरिथ़्य्
ईश्वर स्वरूप पानैय[5] स्वारिथ् तं क्यथ् ॥११३॥

व्याख्या

मैं (रूपभवानी) प्रत्येक क्षण स्वाभाविक आनन्द को अपने आत्मस्वरूप में धारण करके (अपने आत्मस्वरूप को परंब्रह्म के ध्यान में मग्न करके) रहना चाहती हूँ। मैं अपने से अभिन्न ईश्वर के स्वरूप को किसी बाहिरी पूजा आदि के बिना ही (अर्थात् अपने आत्मस्वरूप में स्मरण, मनन, चिन्तन आदि के द्वारा ही) प्राप्त करूँगी और हे प्रभु ! तुम्हारी अनुकम्पा (दया) से इस भव-सागर से पार हो जाऊँगी ॥११३॥

सहज़ तं आनन्दं रांटुम्[6] परमानन्द
अहं रुफ सानन्द तवैय्[8] गव् च़ेथ्

---

१. रह हा क, ख, ग पाठ।
२. मार्त० पाण्डुलिपि।
३. पिंगलेन पाण्डुलिपि।
४. मार्त० पिंग० पाण्डुलिपि।
५. मार्त० पाण्डुलिपि।
६. रज्यम् क, ख, ग पाठ।
७. अव क, ख, ग पाठ।
८. आसिव कोई क, ख, ग पाठ।

आत्मा रंज़ान्[1] सु महा सद्रं जन[2]
मदुर् रसं सों सद्रं प्रेवंहानी[3] ॥११४॥

व्याख्या

मैंने (रूपभवानी ने) परंब्रह्म के स्वाभाविक आनन्द को ही महान और अपार आनन्द जान कर, इसीको अपने स्वरूप में ग्रहण किया। इसी कारण मेरी चित्-शक्ति आनन्दपूर्ण अहं स्वरूप (Spontaneous Consciousness) में विकसित हुई। अब मानों मेरा आत्मस्वरूप असीम (बेहद) समुद्र के समान शोभित हो रहा है और मीठे रस से लहरा रहा है। अर्थात् मेरा ही चित्-विकास अखिल ब्रह्माण्ड में दीप्तिमान होकर प्रज्ज्वलित हो रहा है ॥११४॥

टिप्पणी

भवानी अलक्ष्येश्वरी की इस अवस्था का संकेत उपनिषद् में भी है :—

"आनन्दात् खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयान्ति अभिसंविशन्ति आनन्दं ब्रह्म"।

अर्थात् "निश्चय ही ये सब प्राणिमात्र आनन्द से उत्पन्न होते हैं और आनन्द से पैदा होने के कारण आनन्द से ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही लय होते हैं। अतः आनन्द ही ब्रह्म है)।

इति ज्ञान खण्डं समाप्तम्

---

१. रज्यम् क, ख, ग पाठ।
२. वाचू क, ख पाठ।
३. वह्वजी क, ग पाठ।

अथ स्वानुभवोल्लास दशकम्

[स्वानुभवोल्लास के निम्नलिखित दस श्लोकों की सबसे महान् विशेतषा यह है कि भवानी अलक्ष्येश्वरी अलक्ष्य (Invisible) परमब्रह्म के रहस्य की सारी परतों तथा आवरणों को हटाकर, उसी चैतन्यस्वरूप के समान बनकर, समस्त विराटस्वरूप का विश्वरूप-दर्शन, दृष्टाभाव (Knower समान) से करतीं हैं। ब्रह्माण्ड की समस्त चेतना (Consciousness) दिशा-काल (Time and Space) से रहित होकर सर्वेश्वरी भवानी को अपने ही खण्ड-हीन स्वरूप में दिखाई दे रहीं हैं। इस दशक की तुलना गीता के ग्यारहवें अध्याय के 'विश्वरूप-दर्शन' के 'विराट-स्वरूप' से की जा सकती है। किन्तु वहाँ अर्जुन को, इस विराट का साक्षात्कार करने के लिए भगवान कृष्ण ने (दिव्यं ददामि ते चक्षु) दिव्य नेत्रों से अनुकम्पित किया था; परन्तु भवानी अलक्ष्येश्वरी ने 'दिव्य-आँखें' स्वयं ही, अपनी साधना से प्राप्त की थीं।]

बूयो नं बीजम् तूयो नं तीजम्
वायों नं आकाशं अथाह[1] सर्व सर्वम्
नहि ब्रह्माण्डं नच़ खात्म आत्मम्
शक्ति स्वरूपम् परं ब्रह्म सोऽहम् ॥१॥

व्याख्या

मैं फिर से बीज-रूप सृष्टि के चक्र में नहीं पड़ सकती हूँ। अर्थात् आवागमन के चक्र से छूटने के कारण मैं (रूपभवानी) इन पंचमहाभूतों के कारावास (Prison of Senses) से भी छूट

१. अवाताह, आवता क, ख, ग पाठ।

गई हूँ। अतः मेरा पृथ्वी-तत्त्व, (Earth Element) जो बीज-रूप से मुझ में समाया हुआ था अब मिट गया है और इसी के साथ जल, तेल, वायु और आकाश के तत्त्व (Elements) भी छूट गये हैं। अब तो मैं सब में ओत-प्रोत होने के कारण इस आवागमन के चक्र से मुक्त हो गई हूँ। अब मेरा स्वरूप न तो ब्रह्माण्ड ही है और न चित्-आकाश ही है, अर्थात् आकार और निराकार से परे होने के कारण मेरा स्वरूप कुछ और ही है, जो कि वर्णनातीत है (जिसे कह नहीं सकते हैं, जिसका ब्यौरा दिया नहीं जा सकता है)। अब मैं परंब्रह्म की चेतनता (Consciousness) स्वरूप होकर केवल ब्रह्म का "अहम्" स्वरूप ही हूँ ॥१॥

पुरुषो नं पुरुषात् विमर्शों नं मर्शात्
वर्नातीतो[1] शान्त अन्दर् आकाशम्
सूक्ष्मो नं विस्तार नं पर व्यापारम्
सु अन्तदारम् परं ब्रह्म सोऽहम् ॥२॥

व्याख्या

मेरा "सोऽहम्" स्वरूप, अक्षर और अव्यय (न नाश होने वाला और खत्म न होने वाला) विश्व-पुरुष से कुछ भी भिन्न नहीं है। मेरा विमर्श अर्थात् मेरी चेतनता (Consciousness), उस चैतन्य-स्वरूप से अलग नहीं है। मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णों से परे हो गई हूँ [अथवा मेरा कोई रंग (वर्ण) नहीं है] अतः मैं अपने विस्तीर्ण आत्मास्वरूपी आकाश में शान्त रूप से लीन हो रही हूँ। इस अनुग्रह का यह साक्षात्कार न तो सूक्ष्म है और न स्थूल ही है, अर्थात् यह विश्व-उत्तीर्ण (जगत के परे) भी है और विश्वमय (जगत में) भी है। यह अपने से भिन्न

---

१. तीजो क, ख, ग पाठ।

अन्य किसी का व्यापार या धन्धा नहीं है, अर्थात् जो हो रहा है अब अपनी स्वतंत्र इच्छा से हो रहा है। यही परंब्रह्म अनन्त विश्वों को अपनी शक्ति में धारण करता है। उसी परंब्रह्म का अभिन्न स्वरूप होकर मैं उसका 'अहं-परामर्श' (उसी का, जो मैंने पहिचाना है, स्वरूप हूँ) हूँ ॥२॥

थावर नं ज़ंगम नह् चतुर्वर्णम्
जग नं चऱाचऱ तथ् परमकारम्
सथ् ना[1] असथ अछिन्नदारम्
सूख्मो समाधि दरं ब्रह्म सोऽहम् ॥३॥

व्याख्या

मेरा "सोऽहम्" (वही मैं हूँ) स्वरूप न तो जड़ ही और न चेतन ही है और न इसका स्वरूप चार वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में ही सीमित हो सकता है। इस विश्व के चराचर स्वरूप में उसी का अपार और विशाल रूप समाया है। वह स्वरूप सत्य और असत्य दोनों से परे है अर्थात् जगत में जो सत्य और असत्य है, मेरा वह स्वरूप, उन दोनों परिभाषाओं (Definitions) से परे और ही कुछ है, फिर भी उसीकी निरन्तर प्रवाहित होने वाली धारा में ही सब प्रवाहशील है। मेरा वह स्वरूप समाधि से भी सूक्ष्म है ॥३॥

योगू[2] नं योगान्तर संन्यास वर्णम्
तुरीया अतीता तथ् प्रसिदोऽहम्
अचिन्त्य रूपं तथा परम कारम्
थ्यंर् केवलोहम् परं ब्रह्म सोऽहम् ॥४॥

---

१. सन्नसतोच्छिन्न ग, घ पाठ।
२. जोगो जुगान्तर।

उस "सोऽहम्" प्रकाश की ही सत्ता योग और क्षेम में है (जो नहीं प्राप्त हुआ हो उसकी प्राप्ति "योग" है और जो प्राप्त हो चुका है उसकी रक्षा "क्षेम" कहलाता है), संन्यास में उसी की सत्ता आभासित होती है। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तथा इनसे परे 'तुरीय' अवस्था, में उसी का परम-प्रकाश व्याप्त है। स्पष्ट तो यह है उस असीम की कोई निश्चित परिभाषा (Definition) नहीं है, अर्थात् रूप-रेखा की सीमा में उसे बाँधा नहीं जा सकता है और न बुद्धि के चिन्तन में ही उसे पकड़ सकते हैं। वह अहं-स्वरूप में स्थिर होकर बैठा है और उसी अहं-परामर्श के स्वरूप में मेरा स्वरूप भी है ॥४॥

माता नं पिता ब्राता नं बन्दु
वार्ता स वेदम् एको केवलोऽहम्
गोरू नं चेला मंत्रो नं लीला
सु[1] युस् अकेला परं ब्रह्म सोऽहम् ॥५॥

व्याख्या

उस "सोऽहम्" स्वरूप में (लीन होने के बाद) न कोई माता है न पिता है। न उस स्वरूप में कोई भाई है और बन्धु ही है। इस तथ्य की वार्त्ता चार वेद विशिष्ट रूप में कर चुके हैं। अर्थात् वेद उस 'ओ३म' अक्षर की विस्तारपूर्वक व्याख्या कर चुके हैं कि वह केवल ' अहं स्वरूप" ही है। उस अहं स्वरूप की अवस्था में न तो गुरु है और न शिष्य ही है। वहाँ न तो कोई मंत्र है और न कोई लीला है। वह जो स्वयं अपने में अकेला (और पूर्ण) है वही अहं स्वरूप का परंब्रह्म मेरे रोम-रोम में व्याप्त है ॥५॥

---

१. तथ् क, ख पाठ।

मोहो नं व्यादि नंच़ वैराग्यम्
नंच़ राग द्वीषम्[1] निवेंर शान्ति
सोपुन् नं ज़ागथ् सु शोंदबोदम्
सूख्मो स्वयंभू परं ब्रह्म सोऽहम् ॥६॥

व्याख्या

उस, अपने से अभिन्न, "सोऽहम्" स्वरूप को न तो माया का जाल ही भ्रष्ट कर सकता है न किसी प्रकार का कोई रोग ही उसे व्याप्त करता है। इस स्वरूप में राग-द्वेष की प्रवृत्ति नहीं रहती है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक न तो स्वप्न की स्थिति में होता है और न जागरूकता की स्थिति में होता है, अपितु इस स्वरूप में केवल शुद्ध-चेतनता (Pure Consciousness) ही रहती है। स्वयं सब कुछ करने की शक्ति रहने पर भी वह सूक्ष्म दशा में रहता है। मैं भी वही "अहं स्वरूप" परंब्रह्म हूँ ॥६॥

पादप[2] नं बीजम् नं चतुर्बुजाकारम्
सु वें-ज़ग च़राचर अनन्तरूपम्
अनाम[3] सहस्रनाम किंतु[4] निरादारम्
शुदं स्वरूपं तथ्[5] परंब्रह्म सोऽहम् ॥७॥

व्याख्या

वह अलौकिक "सोऽहम्" स्वरूप सब में व्याप्त होने पर भी न तो वृक्ष ही है और न बीज ही है। चार बाहों-रूपी धर्म, अर्थ,

---

१. दोषम् क, ख, ग पाठ।
२. पादू क, ख, ग पाठ।
३. मार्त० पाण्डुप्रति।
४. पिंगले० पाण्डुप्रति।
५. ङ पाठ।

काम और मोक्ष को धारण करने के उपरान्त भी उसकी कोई बाँह नहीं है। वही स्वरूप भूः, भुवः, स्वः, (जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति) और चराचर ब्रह्माण्ड में छाया हुआ है, परन्तु अनन्त होने के कारण उसका कोई स्वरूप नहीं है। उस परंब्रह्म के हजारों नाम होने पर भी उसका कोई नाम नहीं है। सत्य तो यह है कि उसका कोई विशेष ठिकाना नहीं है अर्थात् वह सब में ओतप्रोत होते हुए भी सबसे परे है। परंब्रह्म का वही "सोऽहम्" शुद्ध एवं निर्मल स्वरूप मैं हूँ ॥७॥

स्यदू नं कजू[1] अविद्या[2] नं विद्या
रेद्धी नं स्यद्धी[3] नं सुआकाश रूपम्
बोवा काश[4] वोलंगिथ् नच़ राज़ं यूगम्
नं सालंब्[5] नैरालंब् परंब्रह्म सोऽहम् ॥८॥

व्याख्या

उस 'सोऽहम्' परंब्रह्म का स्वरूप न तो सीधा ही है और न कुटिल (टेढ़ा) ही है। उसके वास्तविक स्वरूप को विद्या से नहीं पहिचाना जा सकता; और न वह अविद्या स्वरूप ही है। ऋद्धि और सिद्धि (अर्थात् आणिमा, गरिमा आदि आठ सिद्धियाँ) उसके तात्त्विक (Real) स्वरूप को नहीं जान सकती हैं। उसका (परंब्रह्म का) स्वरूप पृथ्वी और आकाश से परे है अर्थात् न तो वह पदार्थ (Matter) ही है और न अगोचर (Invisible) परमाणु ही है; वह

---

१. स्यजू क, ग, घ पाठ, मार्त्तण्ड पाण्डुलिपि "कजू" संस्कृत/कुटिल/मध्य लोप/कुल/कश्म० /कुज/ ध्वनि परिवर्तन /कजू/ ।

२. पिंगलेन पाठ।

३. परीक्षा क, ख, ग पाठ।

४. मार्त० बोवाकाश क, ख, ग पाठ खगाकाश।

५. लम्ब क, ख, ग पाठ।

६. छुस क, ख, ग पाठ।

राजयोग भी नहीं है। वह (परंब्रह्म) न तो किसी के सहारे है और न किसी सहारे के रहित है। इस प्रकार के अनिर्वचनीय (जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता है) परंब्रह्म के 'सोऽहम्' में मेरा निवास है ॥८॥

रूपं नं रसं नं स्पर्श गन्द् देहू
दुयी नं दयस् छु केवलोऽहम्
ज़ीवो नं जीवात्[1] वार्ता नं वार्तात्[2]
कर्ता सु ओंकार[3] परं ब्रह्म सोऽहम् ॥६॥

व्याख्या

उस सोऽहम् ब्रह्म का स्वरूप तन्मात्रों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) अथवा इन्द्रियों के द्वारा प्रकट नहीं हो सकता है ; अर्थात् इन्द्रियाँ उसके स्वरूप को वर्णित नहीं कर सकतीं हैं। बेचारा शरीर, इन्द्रियों के अधीन होने के कारण, उस परंब्रह्म के स्वरूप को जान नहीं सकता है किन्तु जीव की सत्ता अथवा अस्तित्व (Existance) उसके (परंब्रह्म के) बिना नहीं है। उस परंब्रह्म के अतिरिक्त कोई (अथवा किसी प्रकार की) वार्त्ता ही नहीं है, अर्थात् उसी की रचित माया शब्दों के रूप में कही जाती है किन्तु जो कुछ कहा जाता है वह भी "शब्द-ब्रह्म" ही है। वह अखिल ब्रह्माण्ड का कर्त्ता है और वही परंब्रह्म ' सोऽहम्" स्वरूप से मुझ में "ओंकार" रूप में निवास करता है ॥६॥

इडा नं पिंगला सच़ ब्रह्मनाडी
स्वयं सु उपाया सुषुम्नाहमेव

---

१. जीविता क, ग, घ पाठ।
२. वार्ता क, ग, घ पाठ।
३. सहोकार क, ख, घ पाठ।

अनाहत अनामय सु तोरियाॅवस्था
आनन्द पद्द सु परंब्रह्म सोहम् ॥१०॥

व्याख्या

योगशास्त्र उस "सोऽहम्" स्वरूप को नाड़ी-चक्र जगाकर जान नहीं सकता है, अतः इड़ा, पिंगला का जागृत स्वरूप वह (परंब्रह्म) नहीं है। मध्य-नाड़ी के विकसित होने पर ही उस परंब्रह्म के तात्त्विक-स्वरूप का ज्ञान संभव है किन्तु वही परंब्रह्म सुषुम्ना नाड़ी के अहंस्वरूप में निवास करके स्वयं ही उपाय बनता है। वास्तव में वह स्वतंत्र और सूक्ष्म है। वह सोऽहम् स्वरूप जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति से परे तुरीय-रूप है। उस परंब्रह्म का सोऽहम् स्वरूप मेरे ही स्वरूप का आनन्द पद है ॥१०॥

इति स्वानुभवोल्लास दशकम्

अथ आनन्द द्वादशी

[आनन्द द्वादशी के पद्यों में भवानी अलक्ष्येश्वरी प्रशान्त तथा निर्विकार आनन्द की अवस्था में मग्न होकर इस तथ्य का संकेत करती हैं कि भक्त के हेतु यद्यपि मुझे महाशक्ति शारिका के स्वरूप को छोड़कर पार्थिव शरीर में आना पड़ा ("यिह् में त्रोवुम् तिह् आंनुम् पानये"—जिस महाशक्ति शारिका-स्वरूप को मैंने छोड़ दिया था और यह पार्थिव शरीर धारण किया था, उसी छोड़े हुए स्वरूप को मैंने स्वयं जान लिया) किन्तु अब शरीरधारी होने के उपरान्त भी मैंने अपने शारिका भगवती के स्वरूप को अपने में जान लिया है (अतः—बं छस् सोय् कं्ह रोवुम् "नहि"—अब मैं वही अखण्ड शारिका भगवती का स्वरूप हूँ।) पार्थिव-शरीर धारण करने के उपरान्त भी मेरा स्वरूप (महाशक्ति शारिका का स्वरूप) खो नहीं गया है अथवा इस जनन-मरणशील संसार में आने पर भी मेरा तात्त्विक-स्वरूप छिपा नहीं है।]

तथ् अन्तर द्रेंष्टि संबोवुम्
यिह् में त्रोवुम् तिह् आंनुम्[1] पानये[2]
लल्लं मादव् शिव ईकोवुम्
बंयि[3] ईकोवुम्[4] दीह में पानये

---

१. आंवुम् क, ख, ग पाठ।
२. नये क, ग, घ पाठ।
३. ब्य क, ख पाठ।
४. एकावुम् क, ङ, च पाठ।

च़ेंथ् अन्तर मंज़ुले सोवुम्
ललंवुम् तं में प्रोंवुम्[1] पानये
पूरं वेंच़ार प्रांगित् ओंनुम्[2]
यिह् में त्रोवुम् तिह् ओंनुम् पानये ॥१॥

व्याख्या

जिस अलौकिक महाशक्ति-शारिका के पद से अंशात्मक अवतार लेकर मैं (भक्त के हेतु) इस पृथ्वी पर आई थी, उसी अपने तात्त्विक (Real) पद को (अपनी साधना की शक्ति से जानकर) मैंने पुनः प्राप्त किया। अर्थात् जिस महाशक्ति शारिका को मैं विस्मृत कर चुकी थी उसी भूले हुए अपने स्वरूप को मैंने पुनः प्राप्त किया। मैंने तपस्विनी लल्लेश्वरी और अपने गुरुस्वरूप पिता माधव के स्वरूप को एक ही शिवस्वरूप में लय किया, फिर मैंने अपने शरीर के अस्तित्व (Existence) को भी उसी (एक ही) कल्याणप्रद शिव के स्वरूप में लय करके, सारी विभिन्नता (अथवा द्वैत-भाव) को मिटाया और केवल "सोऽहम्" स्वरूप में सबको लय कर दिया। मैंने मन रूपी पालने में भेदमय-जगत (Dual-form) को सुलाकर, 'विमर्श' रूपी लोरियों की धीमी-धीमी थपकियों से पूर्ण-स्वरूप के चिन्तन का प्रादुर्भाव किया। अतः जिस अलौकिक दिव्य पद से, मैं अवत्तीर्ण होकर मनुष्य देह में आई थी, उसी परित्यक्त (त्यागे हुए महाशक्ति शारिका के पद को) को मैंने आत्म-बल से पुनः प्राप्त किया ॥१॥

यमि तोलायि[3] दीह संबोवुम्
मनांविथ्[4] ओनुम्[5] सु पानये

---

१. बांवुम् ख, घ पाठ।
२. आंवुम् ग, घ, ङ पाठ।
३. तराजि क, ख, ग पाठ।
४. मावु क, ग, घ पाठ।
५. आंवुम् क, ख, ङ पाठ।

मन् सथ् असथ् हेंछिनोवुम्[1]
लोन लोवुम् तु कुस मोलं दिये
वांज्यं यिह् स्वरूप[2] तस् मज़् सोवुम्
यिह् में त्रोवुम् तिह् ओंनुम् पानये ॥२॥

व्याख्या

मैंने ज्ञानरूपी तुला (तराजू) पर अपने स्वरूप को तोलकर इस पार्थिव-शरीर का उद्धार किया और मनन-चिन्तन के फल-स्वरूप अपने छिपे हुए आत्मस्वरूप को स्वयं ही प्रकट किया। अपने मन को शिक्षा (अथवा योगाभ्यास) के द्वारा सत्य और असत्य का, वास्तविक और अवास्तविक का, नश्वर और अनश्वर का ज्ञान कराया, अर्थात् मैंने केवल हठ करके अपने मन को (हठयोग से) नहीं बाँधा अपितु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को शिक्षित करके अपने वश में किया। मैंने फलरूपी भाग्य को छोड़ दिया, अतः अब कौन इसका मोल कर सकता है—अर्थात् मैंने ज्ञान-रूपी कर्म को अपनाकर कर्मों के फल (अथवा प्रारब्ध) को भस्म किया। कथन का अभिप्राय यह है कि मैंने कर्म अवश्य किये ; किन्तु फल की अभिलाषा से नहीं अपितु फल से उदासीन होकर किये, जिसके फलस्वरूप आवागमन का चक्कर कट गया और मेरा वास्तविक स्वरूप प्रकट हुआ। अब मैंने इसे (अपने स्वरूप को) उस अपने से अभिन्न स्वरूप में लीन कर दिया है; अर्थात् परंब्रह्म की अभिन्न शक्ति महामाया शारिका के स्वरूप में लीन किया है। जिस महाशक्ति शारिका के स्वरूप को छोड़कर मैं पार्थिव-काया ग्रहण करके इस

---

१. सिरावुम्, सिक्खोवुम् क, ख ग, पाठ।
२. व्वन म्यांनु सारुय तवय् छुस सावुय क, ख, ग पाठ, (ऊपर का पाठ मार्तण्ड और पिंगलेन् पाण्डुलिपि का पाठ है जो अर्थ की दृष्टि से अधिक स्पष्ट है)।

लोक में जन्मी थी, मैंने उसी अपने शक्तिस्वरूप को अपने में पुनः जानकर उसी में अपने को लीन किया ॥२॥

दीह् अन्तर सोंषुप्त सोवुम्[1]
वुज़नोवुम्[2] तोरिया पानैय्
अनाहत् आनन्द् फोलंनोवुम्[4]
मिलनोवुम्[5] अनामय् पानैय्[6]
तथ् रूपं में पानं ललंनोवुम्
बु छस् स्वोंय्[7] कैंह रोवुम् नहि[8] ॥४॥

व्याख्या

मैंने अपने स्वरूप में सुषुप्ति को सुलाकर (अथवा सुषुप्ति की अवस्था को पार करके) अपने आत्मस्वरूप के द्वारा सबसे उत्तम तुरीय अवस्था को पाया अर्थात् जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं को पार करके मैंने तुरीयावस्था (चौथी अवस्था) अर्थात् अहंपरामर्श (Conscious-self) को जगाया। अहंपरामर्श के जग जाने पर, न रुकने वाला या न समाप्त होने वाला परमानन्द (Spontaneous joy) मेरे लिए आत्मस्वरूप में खिल उठा; अर्थात् न समाप्त होने वाले आनन्द और हर्ष की क्यारियाँ खिल उठीं, या मैंने अपने आत्मस्वरूप के आनन्द में खिलाईं। इस आनन्द-

---

१. सांवुम् क, ख, ग पाठ।
२. जांगांवुम् क, ख, ग पाठ।
३. आये ख, ग, ङ पाठ।
४. खिलांवुम् क, ख, ग पाठ।
५. मिलांवुम् क, ङ, च पाठ।
६. च्यये क, ग, ङ पाठ।
७. स्वांवु क, ग; घ पाठ।
८. नये क, ख, ग पाठ।

अवस्था के फलस्वरूप मैंने अपने अंशात्मक स्वरूप को परंब्रह्म की महाशक्ति के शारिका स्वरूप में मिला दिया। फिर मैंने तदाकार (वही आकार) स्वरूप बन कर स्वयं अपने आत्मरस से अपनी ही आत्मा को सींचा और उसे गोद में बिठाकर थपकियाँ दीं और लोरियाँ गाईं। अब मैं उसी परंब्रह्म की अभिन्न शक्ति शारिका ही हूँ। शरीर धारण करने पर मेरा कुछ भी खो नहीं गया अर्थात् यह पार्थिव शरीर मेरे वास्तविक स्वरूप को तिरोहित (छिपाने में) करने में किसी भी प्रकार बाधक (Obstacle) नहीं बना अपितु साधक ही रहा ॥४॥

कलि कलि रूफ् मिलंनोवुम्[1]
ललंनोवुम् सु स्वरूफ[2] पानैये
तथ् अन्तर यिह्[3] दीह नोवुम्
चावुनोवुम्[4] रस गाल्य[5] पानैये
तव तोष्ठि नेरंवाण[6] प्रोवुम्
बु छस् खोय् कँह रोवुम् नहि ॥५॥

व्याख्या

मैंने रोम-रोम में अपने आत्मस्वरूप का दर्शन किया अथवा चन्द्रमा की समस्त (सोलहों) अमृत कलाओं से अपने आत्मस्वरूप को सींचा और अपार आनन्दमय अपने ही आत्मस्वरूप की अपनी

---

१. मिलवांवुम् घ, ङ पाठ।
२. रूप क, ख, ग पाठ।
३. केवल मार्त० पाण्डुलिपि में।
४. पीवांवुम् क, ख, ग पाठ।
५. केवल पिंगलेन् पाण्डुलिपि में।
६. निदाना क, ग, घ पाठ।

ही चेतना (Consciousness) की गोद में लेकर उसे धीमी-धीमी थप-कियों से सुलाया। उसी चेतना के अन्तरतम में स्नान कराके इस शरीर के तीनों मलों, आणवमल (शरीर के संकोच का मल) ; मायामल (भेद के कारण उपजा हुआ मल), और कार्ममल (कर्म जाल के कारण उपजा हुआ मल), को साफ किया है। इसके उपरान्त अद्वैत (Non-dual) रूपी अमृत अपने आत्मस्वरूप को घूँट-घूँट पिलाया। उसी की अनुकम्पा और दया से मैंने निर्वाण एवं मोक्ष के अटल और अविनाशी पद को प्राप्त किया। अब मैं उसी परंब्रह्म की अभिन्न शक्ति शारिका हूँ। शरीर धारण करने पर भी मेरा कुछ भी नहीं खोया है अर्थात् यह पार्थिव शरीर मेरे वास्तविक स्वरूप को तिरोहित (छिपाने) करने में किसी भी प्रकार बाधक (Obstacle) नहीं बना अपितु साधक ही रहा ॥५॥

बोदं ख्येंयम् च़ं में[1] प्रकंट्योहम्
चोम वारागुक् सुअं[2] अक्षय दाम
दौंन् गूच़र[3] मैं वेंच़ार सोवुम्
पानं[4] निवोरुम्[5] रूश-राग[6] तवैय्
आदि श्रोंथ् पानं आच़ंरावुम्
बु छस् स्वोंय कैंह रोवुम् नहि ॥६॥

व्याख्या

अपने से अभिन्न परंब्रह्म का स्वरूप जब अपने स्वरूप में प्रकट

१. मैं मार्त्तण्ड पाण्डुलिपि में।
२. सुअं पिंगलेन पाण्डुलिपि में।
३. मैं मार्त्त०।
४. पानं पिंगलेन्।
५. निवावु क, ख, ङ पाठ।
६. रिशियस क, ख, ग पाठ, (मार्त्तण्ड० निवोरुम्)।

हुआ तो मैंने बुद्धि-तत्त्व का आहार किया (अथवा भोजन किया), अर्थात् मैंने अहं-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त बुद्धि की जटिलता से मुक्ति प्राप्त की। फिर मैंने भगवद्रूपी अविनाशी वैराग्य का मीठा रस पान किया, अर्थात् सही और वास्तविक वैराग्य का मीठा घूंट पिया। मैंने सत्य और असत्य, कर्म और अकर्म, द्वैत और अद्वैत, प्रश्न और उत्तर, शंका और समाधान; प्रकृति और पुरुष, शिव और शक्ति के बीच में अपने विचार को सुला दिया और राग और क्रोध को (अपने से) हटा दिया अर्थात् राग और क्रोध को शिव-शक्ति के मध्य में रख कर इनसे अपने चिन्तन को मुक्त किया। वेदों में वर्णित "ओंकार" नामक आदि श्रुति को अपने मनन में पूर्णरूप से बिठाकर समस्त ब्रह्माण्ड में उसी "ओंकार" के तेज से मैं प्रकाशित हुई हूँ। अब मैं उसी परंब्रह्म की अभिन्न शक्ति शारिका हूँ। शरीर धारण करने पर भी मेरा कुछ भी खोया नहीं अर्थात् यह पार्थिव शरीर मेरे वास्तविक स्वरूप को तिरोहित (छिपाने में) करने में किसी भी प्रकार बाधक (Obstacle) नहीं बना अपितु साधक ही रहा ॥६॥

न खूचूस् न कांसि[1] मन्दंछुम्[2]
यी वेंपंजुम्[3] ती पानैय् ओंनुम्
नं[4] करूम् कैंह नं सांपंनुम्
रूज़ास् सहज़ हैंथं अवैय्
रीचं, तीचं प्रीचं निबावूम्
बु छस् स्वौंय् कैंह रोवुम् नहि ॥७॥

---

१. कूँह क, ख, ग पाठ।
२. लज्जुम् क, ख, ग पाठ।
३. ब्यपजु ग, घ, ङ पाठ।
४. न स्यकरु क, ग, घ पाठ।

व्याख्या

मैं परमार्थ के अन्वेषण में (खोज में) कहीं भी भयभीत नहीं हुई अपितु निर्भय होकर इस मार्ग पर आगे बढ़ती गई। संसार की तथाकथित (socalled) लाज के कारण मुझे जरा भी झिझक नहीं हुई अर्थात् समाज की नजरों में निर्लज्ज बनकर आत्मस्वरूप की खोज करती रही। जो मुझे अच्छा लगा (अथवा इस परमार्थ-मार्ग पर जो भी उचित था) वही मैंने किया, अर्थात् मैंने आत्म-स्वरूप के प्रकट होने पर उसी को गृहण किया जो इस मार्ग पर उचित था। यह न समझना कि मैंने इस जगत में जन्म लेकर कुछ किया या प्राप्त किया, मैं तो जो हूँ वह पहले से ही थी। मैं तो केवल अपने आत्मस्वरूप की सहजावस्था (वह अवस्था जहाँ कुछ नहीं करना पड़ता है केवल स्वाभाविक रूप से साधक अपनी आत्मा के ब्रह्मस्वरूप आनन्द में मग्न रहता है) में मग्न होकर ही रही हूँ। किन्तु सहजावस्था में रहकर भी मैंने जगत की रीति, रिवाज और कुशल-क्षेम (आपसी भलाई) आदि का व्यवहार ठीक प्रकार से किया। अर्थात् अखण्ड-आनन्द में लीन रहने पर भी मैंने लोक-व्यवहार में कहीं भी कोई चूक (अथवा छूट) नहीं की। इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार से भी स्पष्ट होता है—"मनुष्य-शरीर धारण करने के बाद तथा सहज आनन्द की अवस्था की प्राप्ति तक मैंने ऋत (सत्य, कश्मीरी=रीचें) ; तितिक्षा (वैराग्य, कश्मीरी=तीचें) और प्रीति (भगवत-भक्ति या प्रेम, कश्मीरी=प्रीचं) का सदा निर्वाह किया। अब मैं उसी परंब्रह्म की अभिन्न शक्तिस्वरूपा शारिका हूँ। शरीर धारण करने पर भी मेरा कुछ खोया नहीं अर्थात् यह पार्थिव शरीर मेरे वास्तविक स्वरूप को तिरोहित (छिपने में) करने में किसी भी प्रकार बाधक (Obstacle) नहीं बना अपितु साधक ही रहा ॥७॥

तत्त्व प्रसंदिथ् दय् प्रोवुम्
अंग गालिथ[१] ज़न्मं हा मोरुम्
लूकं[२] खोचुन् कलि[३] ना दोरुम्
शिव[४] रूपं शोंद् नैर्मल प्रज़ल्योम्
द्योंन-प्रलय पानैथ ईकोवुम्
बु छस् स्वोंय् कैंहं रोवुम नहिं ॥८॥

व्याख्या

मैंने पृथ्वी-तत्त्व (Earth Element) से लेकर माया-तत्त्व तक के ३१ तत्त्वों को अपने में लय करके शुद्ध विद्या (Imperical Knowledge) का मार्ग (अथवा रास्ता) अपनाकर ईश्वर को पाया। अपनी इन्द्रियों का निग्रह (वश में) करके वासना एवं शंका को मिटाया, आवागमन (जन्म-मरण के चक्कर) को समाप्त किया। मैंने कभी भी लोक-निन्दा का भय अपने मन में धारण नहीं किया, अर्थात् मैंने कभी इसकी चिन्ता नहीं की कि लोग मेरे बारे में क्या कहते हैं? निर्भय होने के बाद ही निर्मल और शुद्ध शिव-स्वरूप मेरे स्वरूप में प्रज्ज्वलित हुआ (चमक उठा)। मैंने सृष्टि-रूपी दिन और रात-रूपी प्रलय को अपने आत्मस्वरूप के अनुग्रह में लय किया है, अतः (इसलिए) अब मैं उसी परंब्रह्म की अभिन्न शक्तिस्वरूपा शारिका हूँ। शरीर धारण करने के बाद भी मेरा कुछ खोया नहीं अर्थात् यह पार्थिव शरीर मेरे वास्तविक स्वरूप को तिरोहित

---

१. मा म्वये क, ख, ग पाठ, ज़यमा मयी च पाठ।
२. खोचिव क, ख पाठ, लोकन् ग, घ पाठ।
३. करि-जे क, ख, ग मार्त्तण्ड पाण्डुलिपि "कलिना दोरुम्"।
४. प्रजि न्यर्मल् श्वद् शिवय् क, ख, ग पिंगलेन् पाण्डुलिपि शिवरूप शोदं नैर्मल प्रजल्योम।

(छिपाने में) करने में किसी भी प्रकार बाधक (Obstacle) नहीं बना अपितु साधक ही रहा ।।८।।

इकुथ[1] छु[2] परमबूद सदानन्द
तस्[3] व्योंद्र यस् समाद स्वरं आसे
रेंदं स्येंदं विद्या यस्[4] अन्दर्[5] आसे
तथ् पदवी[6] रोंस्सं बेंयि क्याह आसे ।।९।।

व्याख्या

ज्ञान की चेतना (Consciousness) समस्त ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु (Atom) और कणु (Particle) में सदा ही एक ही लय और ताल के साथ अपार आनन्द से विहार करती है, किन्तु ब्रह्माण्ड की इस अलौकिक लीला का यह दृश्य (नज़ारा) वही देख सकता है जिस साधक के अपने स्वरूप में ऋद्धि, सिद्धि और विद्या निहित हों और जिसे समाधि का आनन्द और ब्रह्मरन्ध्र से उपजने वाले संगीत का ज्ञान (अथवा साक्षात्कार) हुआ हो और जिस साधक के लिए समाधि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो, अर्थात् जिसकी सदा यही (समाधि की) अवस्था बनी रहती हो। वह साधक अवश्य ही इस अलौकिक आनन्द का आस्वादन करता है ।।९।।

---

१. एकथु क, ख, ग पाठ ।
२. केवल मार्त्त० और पिंगलेन् की पाण्डुलिपि में प्राप्त ।
३. विदीय क, ख, ग पाठ ।
४. युसु ख, घ पाठ ।
५. आदरु क, ख पाठ, अन्तरु ङ, च पाठ ।
६. रसे ख, घ, च पाठ ।

रंदं स्येंदं विद्या ग्रेंजि आगरैय्
तस्[1] गरैय् वैभ्रन स्वगरैय्[2] गाह्
करि सूर्य वोंदय् चलि गटंकारूय
सहज़ वैचार बनि सारिसूय[3] बूद ॥१०॥

व्याख्या

उस तत्त्ववेत्ता साधक के लिए ऋद्धि (Prosperity) सिद्धि (Success) और विद्या स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप के स्रोत (Source) से उत्पन्न होंगी। उसे अपने ही घर (आत्मस्वरूप रूपी घर) में वैभव [परमार्थ-वैभव] प्राप्त होगा और उसके अपने ही आत्मस्वरूप में प्रकाश की लहरें उत्पन्न होंगीं। ज्ञान और विद्या का सूर्य उदित होकर अज्ञान और अविद्या रूपी अन्धकार को भगाएगा और स्वाभाविक विचार ही (अर्थात् आत्मप्रकाश ही) सब में ओतप्रोत दिखाई देगा ॥१०॥

य्रेंथ् सथ् तत्त्व बूद शोंदि आचारैय्
यीयि[1] व्यवहारैय् वीद तैथ यूग
च़ं कुस् बु कुस् कैंह नं वेच़ारा
अछ़िन्न दारा सुइ च़ेनि स्वरूफ ॥११॥

व्याख्या

जिस साधक को शुद्धविद्या (Imperical Knowledge) के आचरण (अथवा अभ्यास) से, सत्य अथवा सात्विक-वृत्ति (रहन-

---

१. तसि क, ख, ग पाठ ।
२. सागरय क, ग, घ पाठ ।
३. सारबूद क, घ, ङ पाठ ।
४. इय क, ख, ग पाठ ।

सहन) के द्वारा, पृथ्वी-तत्व से लेकर माया-तत्त्व तक के ३१ तत्त्वों का ज्ञान हुआ हो और इसके उपरान्त जो ईश्वर-तत्त्व, सदाशिव-तत्त्व, शक्ति-तत्त्व और अन्ततः शिव-तत्त्व के रहस्य को जान चुका हो, वही वास्तविक 'परमार्थ' को जानने वाला साधक सही, अर्थों में वेद और योग का व्यवहार कर सकता है। भवानी अलक्ष्येश्वरी के उपदेश का यह तात्पर्य है कि पृथ्वी-तत्त्व (Earth element) से लेकर माया-तत्त्व (Maya element) तक तत्त्व-बोध का ज्ञान होता है और शुद्धविद्या (Imperical knowledge) से लेकर शिव-तत्व (Spontaneous consciousness) तक आत्म-बोध का ज्ञान बनता है। अतः जिस साधक को तत्त्व-बोध और आत्म-बोध (Elemental realisation and Self-realisation) का युगपत (Simultaneously एक साथ,) ज्ञान हुआ हो वही साधक जगत में व्यवहार करता हुआ भी वेद और योग के ज्ञान का अधिकारी होता है। इस अवस्था (अथवा इस पद) पर पहुँचे हुए साधक को इस बात का कोई भी विचार नहीं रहता है कि वह कौन है ? अर्थात् प्रमाता (Subject कर्त्ता) और प्रमेय (Object कर्म) अथवा उत्तम-पुरुष (First person मैं) और अन्य-पुरुष (Third person) वह, वे) अथवा अहन्ता (शिव) और इदन्ता (जगत) का भेद एवं द्वैत भाव (Duality) मिटाकर एक ही स्वरूप में उसे सब दिखाई देते हैं। इस कोटि का साधक अनन्त स्वरूपों में उसी (अपने से अभिन्न) शिव स्वरूप को देखकर अपने आत्म-स्वरूप को पहिचानता है ॥११॥

यिह् रूफ सुअं रूप परं रूफ वले
** यिथ्सें कले नोन् नेरज़न् रूप**

१. आव क, घ, ङ पाठ।
२. केवल मार्तण्ड और पिंगलेन की पाण्डुलिपि में।

यिह् शूब लब्वे[1] ग्ञानं[2] वीगवले
अज़र अमर आसे शोंदं स्वरूफ ॥१२॥

व्याख्या

जो साधक प्रत्यक्ष-जगत (जो ज़ाहिर है दिखाई देता है) को, परोक्ष-जगत (जो है पर हमारे सामने जाहिर नहीं है) को तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष से परे के जगत को एक ही स्वरूप में विलय कर सकता है (अर्थात् जो साधक जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति को तुरीय अवस्था में लय कर सकता है) वही काल (Time and space) की कलना (चिन्तन) से परे होकर नग्न (Naked) परंब्रह्म के स्वरूप को जान सकता है। अर्थात् जो साधक वर्तमान काल (Present tense), भूत-काल (Past tense) और भविष्यत्काल (Future tense) की काल-कलना से (अथवा समय के बटवारे से) परे होकर कालातीत अर्थात् दिशा और काल (Time and space) से ऊपर उठता है वही इस अखिल ब्रह्माण्ड की चेतना (Universal Consciousness) का साक्षात्कार कर सकता है। इस काल-कलना से ऊँचा उठा हुआ साधक ही अलौकिक शोभा के पद को प्राप्त करता है और इसके उपरान्त ज्ञान की गति से स्वयं शुद्ध परंब्रह्म का अभिन्न (Integral) स्वरूप बनकर "जर और मर" (अर्थात् "बुढ़ापा और मरना") इन दोनों ही नश्वर अवस्थाओं से पार होकर परम-हंस बनता है, और अजर और अमर बनता है; अर्थात् दिशा काल (Time and space) का ग्रास करके स्वयं कालातीत बनता है ॥१२॥

शुभम् भद्रम् कल्याणम्

इति श्री शारिकादेव्यवताररूपायाः श्री माधवदरस्यात्मजायास्तपस्विन्या अलक्ष्येश्वरी सम्यरूपभवान्या रहस्योपदेशः समाप्तः ॥

---

१. लूबस् क, ख, ग पाठ।
२. जान क, ख, ङ पाठ।

अलक्ष्येश्वरी श्रीरूपभवानी के सामाजिक
एवं
धार्मिक उपदेशों का सार

(१) भूत-प्रेतों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। साधुओं और फकीरों द्वारा दिये जाने वाले तावीज़ों तथा मन्त्रों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(२) मदिरा (शराब) चरस, गाँजा, भांग इत्यादि नशीली वस्तुओं का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(३) जुआ नहीं खेलना चाहिए।

(४) देवीजी ने माँस, अण्डे इत्यादि तामसी-भोजन के भक्षण का विरोध किया तथा शुद्ध शाकाहारी भोजन पर बल दिया। वे पशु-बलि की घोर विरोधी थीं।

(५) देवी रूपभवानी ने घिसे-पिटे, निरर्थक, आडम्बरपूर्ण, तथा रूढ़िवादी रीति-रिवाजों का कड़ा निषेध किया तथा कश्मीरी हिन्दुओं के कुछ विशेष रिवाजों का स्पष्ट विरोध किया, जैसे—"गाड़् -बत्" (नागादि पूर्वजों को दिया जाने वाला मछली-भात) "पन" (रोट बनाना) "राज़कठ" (भेड़ के मांस के सारे अंगों को एक साथ पका कर उसी दिन सारा खा लेना) "यछ़िनि च़्वदाह " (यक्षिणी चतुर्दशी) अथवा "लावस् च़्वदाह् " और "हूरि छ़ाविज़" (मनोती पूरी होने पर मैमने की बलि देना) इत्यादि।

(६) देवीजी ने कश्मीरी हिन्दुओं को पारिवारिक जीवन-सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण उपदेश दिये

हैं। नारी के प्रति समाज में होने वाले अत्याचारों का उन्होंने घोर विरोध किया, नारी कल्याण के प्रति वे अत्यधिक जागरूक थीं और कश्मीरी हिन्दुओं में यह माना जाता है कि हिन्दू नारी के कल्याण हेतु ही ललद्यद तथा देवी रूपभवानी ने अवतार लिया था। देवी रूपभवानी ने एक पत्नी के रहते दूसरा विवाह न करने का आदेश कश्मीरी पुरुषों को दिया था।

(७) धन के लोभ से अथवा अन्य किसी विशेष दबाव से अपनी सन्तान को कुल के बाहर गोद देने पर उन्होंने प्रतिबन्ध लगाया था। इसी प्रकार कुल के बाहर से गोद लेने का भी उन्होंने विरोध किया।

(८) अपनी जन्म-भूमि कश्मीर के प्रति देवीजी के मन में अटूट प्रेम था, इसी कारण उन्होंने कश्मीरी हिन्दुओं को आदेश दिया था कि वे अचल सम्पत्ति बेचकर, कश्मीर छोड़कर बाहर स्थायी निवास के लिए न जायें।

(९) देवीजी ने सारे हिन्दू समाज को एकता तथा भाईचारे से रहने का उपदेश दिया।

(१०) देवी रूपभवानी ने हिन्दुओं और मुसलमानों को परस्पर प्रेम और सद्भाव से रहने का उपदेश दिया। वे स्वयं धार्मिक सहिष्णुता पर आचरण करती थीं और इस विषय में उनके जीवन से अनेक प्रामाणिक घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

अन्तर्देशीय पत्र कार्ड
INLAND LETTER CARD

Q.M.S





Smt. Bhakhti Laxmi Dhar
C/o MR. T.N. KHUSHU
141, Laxmibai Nagar
New Delhi

पिन PIN 110023

तीसरा मोड़ THIRD FOLD

दूसरा मोड़ SECOND FOLD

इस पत्र के भीतर कुछ न रखिए NO ENCLOSURES ALLOWED

प्रेषक का नाम और पता :— SENDER'S NAME AND ADDRESS :—

Dhar J.k
Hyderabad

5 SEP 1982 N. DELHI

पिन PIN 500027

हैदराबाद
18.9.82

मेरी प्यारी चाची,

सादर प्रणाम। आशा है कि आप का स्वास्थ ठीक होगा और आपका श्रीनगर का सफर ठीक तरह से हुआ। स्वामी जी से भेंट करके आप को बहुत खुशी हुई होगी।

अन्नाँ से फोन पर बात होती रहती है और आपका हाल पता चलता रहता है। आप 22 तारीख को अमरीका जा रही है। यह सुनकर खुशी हुई। आशा है कि मेरा दिल्ली न आना आपको बुरा नहीं लगेगा। एक तो छुट्टी और ऊपर से टाईम कम। भगवान करे आप बिलकुल ठीक तरह से पहुँच जायें।

मैं यहाँ ठीक तरह से हूं। आप बिलकुल चिन्ता नहीं करना। आशा है कि मेरा पहला खत भी मिल गया होगा।

अमरीका में डेडी को, ममी को मेरा प्रणाम कहना। अंशु को बहुत सा प्यार करना। विजय और मेरीलीन को नमस्ते।

आशा है कि बैगाश और जीजी और अनु जी ठीक तरह से हैं। उनको मेरा नमस्कार कहना।

शेष कुशल।

सादर प्रणाम

आपका बेटा
शाती .
Tushar

पहला मोड़ FIRST FOLD